मेरा देश

(भारतीय संस्कृति और इतिहास के परिचायक लेखों का संग्रह)

पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी

•

रचना प्रकाशन

४५-ए, खुल्दाबाद, इलाहाबाद-१

देश-दर्शन

कहते हैं कि एक समय किसी देश का राजा तीर्थ-यात्रा करने के लिए निकला। कितने ही नगर और तीर्थ-स्थान देखता हुआ वह हरिद्वार पहुँचा। वहाँ एक सन्यासी से उसकी भेंट हुई।

सन्यासी ने कहा—महाराज, मुझे एक यज्ञ करना है। उसके लिए मुझे पाँच लाख रुपयों की जरूरत है। अब मुझे कोई दूसरा काम करना नहीं है। अगर आप मुझे पाँच लाख रुपये दें तो मैं आप को ऐसी अद्भुत चीज दूँगा जिसे पाकर आप खूब प्रसन्न होंगें।

राजा ने कहा—देखूँ, वह कौन-सी अद्भुत चीज है।

सन्यासी ने उसको एक मृग-चर्म दिखलाया। वह मृग-चर्म इतना बड़ा था कि उस पर पाँच आदमी आराम से बैठ सकते थे।

राजा ने मृग-चर्म को देखकर पूछा—इसका गुण क्या है?

सन्यासी ने कहा—आप इस पर बैठ जाइए और जहाँ आप चाहेंगे तुरन्त बात-की-बात में पहुँच जायेंगे। गिरने का डर नहीं है। आँधी तूफान का भय नहीं है। यह मृग-चर्म आप को आराम से सब जगह ले जा सकता है।

राजा को यह सुनकर बड़ा अचरज हुआ। वह और सन्यासी दोनों उस पर बैठ गये।

राजा ने कहा—मुझे मेरी राजधानी पहुँचा दो।

तुरन्त ही मृग-चर्म उड़ा और क्षणभर में कितने ही नगर, पहाड़ और नदियाँ लाँघकर राजा सन्यासी के साथ अपनी राजधानी उतरा। राजा ने खजाने से सन्यासी को तुरन्त पाँच लाख रुपये दिलवाये और मृगचर्म को अपने पास रख लिया। जब वह चाहता था तभी उस पर बैठकर देश-विदेशों की यात्रा किया करता था।

अगर तुम्हारे पास ऐसा चर्म हो तो क्या तुम्हें भिन्न-भिन्न देश देखने की इच्छा न होगी ? आओ, आज मैं तुम्हें अपने साथ अपने देश भारतवर्ष का दर्शन करा देता हूँ। डरने की बात नहीं है। तुम्हें कोई कष्ट नहीं होगा। तुम खूब आराम से अपने देश की सारी बातें जान लोगे। इसके साथ तुम्हें अपने देश के इतिहास की भी कितनी बातें ज्ञात हो जायेगी।

अच्छा तो लो, मैं यह मृग-चर्म तुम्हारे लिए यहाँ बिछाता हूँ। बतलाओ, यह कौन देश है जिसके तीन ओर समुद्र है और एक ओर उत्तर में पहाड़ों की एक श्रेणी चली गई है।

यही हम लोगों का देश भारतवर्ष है। भारतवर्ष का प्राचीन नाम आर्यावर्त है। भरत नामक एक प्रसिद्ध राजा के कारण इसका नाम भारतवर्ष पड़ा। एशिया के दूसरे देशों से भारतवर्ष को हिमालय, हिन्दूकुश और सुलेमान की पर्वत-श्रेणियों ने अलग कर रक्खी है। भारतवर्ष के उत्तर में यह पर्वत है और तीनों ओर हिन्द-महासागर है।

नदी और पहाड़ों से देशों की सीमा निश्चित होती है। भारतवर्ष को विन्ध्याचल और सतपुड़ा ने दो खण्ड कर दिये हैं—उत्तर भारत और दक्षिण भारत। पश्चिमीय घाट, पूर्वीय घाट, अरावली और नीलगिरि ने भी उसके स्वाभाविक खण्ड कर दिये हैं। इसी प्रकार सिन्धु, गंगा, यमुना, ब्रह्मपुत्र, नर्मदा, ताप्ती, महानदी, गोदावरी, कृष्णा और कावेरी आदि नदियों ने भी इन प्रदेशों को अलग कर रक्खा है। फिर भी भारतवर्ष एक ही देश है। उसकी अपनी एक संस्कृति और अपनी एक सभ्यता है।

सबसे पहले हम दिल्ली का दर्शन करें। वही भारतीय संस्कृति और सभ्यता का केन्द्र है।

दिल्ली के सम्बन्ध में चन्द ने लिखा है—यह दिल्लीश्वर का सुन्दर स्थान है। यहाँ पापों को दूर करने वाली यमुना जी बह रही हैं। यह वही स्थान है जिसे महाराज धृतराष्ट्र ने धर्म-पुत्र को दिया

था। यह राज्य श्री से युक्त है। पहले इसका नाम इन्द्रप्रस्थ था। इसी के लिए पाण्डवों ने युद्ध किया था। चारों मार्गों में पतित शिरोमणि के भी पापों को दूर करनेवाली रविनन्दिनी विराजमान है। सभी सुखी हैं, सभी कृतविद्य हैं। पुर आमोद-प्रमोदों से पूर्ण है। दिल्ली का यह वर्णन आधुनिक काल में भी उपयुक्त है। यह सच है कि बौद्धकाल में दिल्ली का वह महत्त्व नहीं था। उस समय बिहार के साथ पाटलिपुत्र का महत्त्व बढ़ गया था। अंग्रेजों के आधिपत्य काल में भी कितने ही वर्षों तक कलकत्ता का महत्त्व था परन्तु अब फिर दिल्ली ने अपना पूर्व गौरव प्राप्त कर लिया है।

चन्द उस युग में हुए हैं जब देश में क्षात्र-धर्म चैतन्य था। उन दिनों क्षत्रियों में शौर्य था, साहस था, विश्वास था, सरलता थी। उनमें दूरदर्शिता नहीं थी। वे युद्ध में प्राण देना जानते थे पर छल से विजय प्राप्त कर लेना-उन्हें अभीष्ट न था। आत्म-मर्यादा, स्वाधीनता और कुल गौरव की रक्षा करना उनका एक मात्र धर्म था। विशाल, चिरस्थायी साम्राज्य स्थापित करने की उन्होंने कभी चेष्टा ही नहीं की। युद्ध ही उनका व्यवसाय था। युद्ध-स्थल ही उनके लिए क्रीड़ा स्थल था। सभी समय वे युद्ध के लिए प्रस्तुत रहते थे। ऐसे लोगों के लिए जो काव्य लिखा जायगा, उसमें रस का प्रवाह नहीं बहेगा और न शब्दालंकारों और अर्थालंकारों का अपूर्व विन्यास ही दृष्टिगोचर होगा। उसके छन्दों में होगी क्षिप्रगति, शब्दों में भेरी-रव और भावों में रणोल्लास। कवि को कल्पना के लिए अवकाश नहीं है। अपने आदर्श वीर का चित्र अंकित करने के लिए उन्हें उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं की खोज करनी नहीं पड़ी।

भारतवर्ष में कोई छः सौ वर्ष तक हिन्दू और मुसलमान लड़ते रहे। दिल्ली के महाराज पृथ्वीराज ने मुहम्मद गोरी को हराया, पर दूसरी बार राजपूतों में फूट होने के कारण वे स्वयं लड़ाई में मारे गये और भारत पर मुसलमानों का राज्य स्थापित हुआ। राजपूत उत्तर

भारत को छोड़कर राजपूताने में आ गये और वहीं उन्होंने अपने राज्य स्थापित किये। ये राज्य अभी तक विद्यमान् हैं। जोधपुर, जयपुर, उदयपुर और बीकानेर इनमें मुख्य हैं। इनमें भी उदयपुर सर्वश्रेष्ठ था। यह मेवाड़ कहलाता है। चित्तौड़ उसकी पुरानी राजधानी है। महाराणा कुम्भ और महाराणा सांगा के नाम को कोई भी राजपूत नहीं भूलेगा।

महारानी पद्मिनी चित्तौड़ की रानी थी। कहा जाता है कि इन्हीं के सौन्दर्य पर मुग्ध होकर अलाउद्दीन ने चित्तौड़ पर चढ़ाई की। जब तक एक भी राजपूत जीता रहा, तब तक मुसलमान किले के भीतर न घुस सके। अन्त में जब अलाउद्दीन ने किले में प्रवेश किया, तब उसने देखा कि वहाँ एक भी राजपूत रमणी नहीं है। अपने धर्म की रक्षा के लिए महारानी पद्मिनी के साथ सब जलकर मर गईं। उदयपुर महाराणा उदयसिंह का बसाया हुआ है। महाराणा प्रतापसिंह इन्हीं के पुत्र थे। मुगल सम्राट अकबर की अधीनता सभी राजपूत राजाओं ने स्वीकार कर ली। पर महाराणा प्रतापसिंह अपने मेवाड़ की स्वाधीनता के लिए जीवन-भर लड़ते रहे।

भारत के इतिहास में मुगलों का शासन-काल विशेष प्रसिद्ध है। उनके समय में भारत की कीर्ति दूर-दूर देशों में फैल गई थी। यूरोप से कितने ही लोग उनका दरबार देखने के लिए आये और उनका वैभव देखकर चकित हो गए। मुगलों का आधिपत्य सन् १५२६ से १८०३ तक रहा। बाबर पहला मुगल बादशाह था। वह जैसा शूर था, वैसा ही विद्वान् था। उसने आत्म-चरित्र में लिखा है कि मुझे अपना महल बनवाने के लिए ६८० शिल्पकार रखने पड़े थे। इनके सिवाय आगरा, सीकरी आदि स्थानों में १४६१ कारीगर काम करते थे। परन्तु अब बाबर और हुमायूं के समय का कोई काम नहीं मिलता। बाबर के बाद हुमायूं गद्दी पर बैठा। उसे ज्योतिष-शास्त्र से खूब प्रेम

था। नक्षत्रों का हिसाब करके उन्हीं के अनुसार अपना दरबार किया करता था। कहते हैं कि एक बार किसी मिश्ती ने उसकी प्राण रक्षा की। जब हुमायूं दिल्ली पहुँच गया तब उसने तीन घंटे के लिए उस मिश्ती को बादशाह बना दिया। उस मिश्ती ने अपनी मशक के गोल टुकड़े कटवाये, उन पर अपना नाम छपवाया और उनके सिक्के चलाये।

हुमायूं के बाद उसका बेटा अकबर बादशाह हुआ। मुगलों में सबसे बड़ा बादशाह वही हुआ। संसार भर में जो बड़े-बड़े बादशाह हुए हैं, उनमें अकबर का नाम लिया जाता है। अकबर था तो बड़ा बुद्धिमान् पर वह पढ़ा-लिखा नहीं था। वह अपने दस्तखत भी नहीं कर सकता था। आगरे का लाल पत्थर का किला अकबर का बनाया हुआ है। सिकन्दरे का पत्थर का काम और सीकरी के महल उसी के समय में बने। इनकी कारीगरी देख कर अभी तक लोग दाँतों-तले उँगली दबाते हैं। पत्थर पर बेल-बूटे, फूल-पत्ते और जाली का काम इतनी खूबसूरती से किया गया है कि देखते ही बनता है। अकबर के समय में कई अच्छे-अच्छे चित्रकार थे। सप्ताह भर में जितने चित्र तैयार होते थे, उन सबकी परीक्षा एक दिन बैठकर खुद अकबर करता था। फिर चित्रकारों को उनकी योग्यता के अनुसार पुरस्कार दिया जाता था। कभी-कभी अकबर हिन्दुओं के कपड़े पहनता था, माथे पर तिलक लगाता था और कानों में बालियाँ पहनता था। उसकी सभा में भी बड़े-बड़े विद्वान् थे। वह विद्वानों का खूब आदर करता था। उसके मन्त्री अबुल फजल ने लिखा है, "बादशाह दिन-रात में केवल एक बार खाते हैं। थोड़ी भूख रहने पर खाने से हाथ खींच लेते हैं, शोरे से ठंडा किया हुआ गंगाजल पीते हैं।" अकबर रात को सिर्फ छः घंटे सोता; दिन भर काम किया करता और रात को विद्वानों की एक सभा करता था। वह सबकी सलाह लेता और फिर सोच-विचार कर अपना कर्त्तव्य करता था।

अकबर का बेटा जहाँगीर था। उसकी बेगम नूरजहाँ का नाम खूब प्रसिद्ध है। नूरजहाँ थी तो स्त्री, पर यह राज्य का काम अच्छी तरह सम्हाल लेती थी। यह प्रसिद्ध है कि उसी ने सबसे पहले गुलाब का इत्र निकाला।

बादशाह होने के बाद जहाँगीर ने एक न्याय की जंजीर लटकाई। वह एक मन सोने की थी। उसका एक शिरा शाहबुर्ज से और दूसरा किले के बाहर जमुना के किनारे पत्थर के एक खम्भे से बँधा था। वह साठ गज लम्बी थी और उसमें गज-गज भर के अन्तर पर साठ घंटे लगे थे। यह घोषणा कर दी गई थी कि यदि किसी का न्याय अदालत में न हो, तो वह बादशाह से फरियाद करने के लिए इस जंजीर को हिला दिया करे। हाकिन्स नामक एक अंग्रेज ने लिखा है कि जहाँगीर के समय में तीन हजार मनसबदार थे। उनके अधीन तीन लाख सेना थी। बादशाह के खजाने में अनन्त धन और रत्नों का ढेर था। उसके महल में ३६ हजार दास-दासी काम करते थे। बादशाह के पास १२ हजार हाथी थे। उनमें ३०० सिर्फ बादशाह के लिए थे। प्रतिदिन सभा में ५०,००० रुपये खर्च होते थे और राज-महल के भीतर रोज ३०,००० रुपये खर्च हो जाते थे।

जहाँगीर के बाद उसका बेटा शाहजहाँ गद्दी पर बैठा। शाहजहाँ ने बड़े-बड़े महल बनवाये। दिल्ली नगर को उसी ने फिर से बसाया। जमुना के तीर पर उसने लाल पत्थर का किला बनवाया। वह ५० लाख रुपये की लागत में बीस वर्ष में तैयार हुआ। किले के पहले दरवाजे को पार कर आगे बढ़ने से तोरण द्वार मिलता था। पहले उसके ऊपर नौबत बजती थी। उसके बाद पूर्व की ओर दरबारे आम है। उसके पीछे दरबारे खास बना हुआ है। यह सफेद पत्थर का है। पहले यह चाँदी से बिलकुल ढका हुआ था। पानीपत की लड़ाई के पहले मराठे उसे लूटकर ले गये। यह नौ लाख रुपये की लागत से बना था। उसमें लिखा है कि यदि पृथ्वी में कहीं स्वर्ग है तो वह यहीं

है, वह यहीं है, वह यहीं है। यहीं तख्ते-ताऊस रक्खा रहता था। तख्ते ताऊस के विषय में यह बात प्रसिद्ध है कि उसके लिए ८६ लाख रुपये के उत्तमोत्तम रत्न छाँटे गये। फिर कोई १४ लाख रुपये लगाकर ३॥ गज लम्बी, ६ इंच चौड़ी और पाँच गज ऊँची पटिया बनाई गई। पन्ने-जड़े बारह खम्भों पर तख्त की छत खड़ी की गई। दोनों तरफ एक एक मोर बनाया गया। उनके अंगों में अद्भुत-अद्भुत रत्न जड़े गये। चढ़ने के लिए तीन सीढ़ियाँ बनाई गई। उन पर रत्न लगाये गये। सात वर्ष में यह तख्त तैयार हुआ। इसमें एक करोड़ रुपये खर्च हुए।

आगरे का ताज-महल जो विश्व के दर्शनीय स्थानों में एक है, इसी बादशाह ने बनवाया था।

शाहजहाँ के बाद औरंगजेब गद्दी पर बैठा था। वह बड़ा प्रतापी था। उसका फकीराना ठाठ रहता था आमोद-प्रमोद में उसका मन नहीं लगता था। अपने निज के कामों में उसने राज्य का एक पैसा भी व्यय नहीं किया। टोपियाँ सीकर और कुरान की नकल कर उसने अपना जीवन-निर्वाह किया। बतलाओ तो, दुनियाँ में ऐसे कितने बादशाह हुए हैं?

छत्रपति शिवाजी औरंगजेब के प्रधान शत्रु थे। हिन्दुत्व की रक्षा के लिए उन्होंने उससे लोहा लिया और दक्षिण में अपना प्रभुत्व स्थापित किया। ये बड़े धीर-वीर थे। समस्त देश को उनका बड़ा अभिमान है।

मुगलों के समय में खाने-पीने की चीजें बहुत सस्ती थीं। दूध की अधिकता थी। गरीब आदमी भी खूब दूध पीते थे। दही खूब खाया जाता था। बर्नियर नामक एक विदेशी यात्री ने लिखा है— इस देश में नींबू का शरबत और दही से बढ़कर कोई चीज नहीं मानी जाती। मुगल बादशाह एश-बाग लगाते थे। उन्हें शिकार खेलने का भी शौक था। अकबर को पोलो खूब पसन्द था। जहाँगीर को कबूतर

बाजी का शौक था। शाहजहाँ स्वांग देखना खूब पसन्द करता था। गरीब मुसाफिरों के आराम के हेतु सरायें बनवाई जाती थीं। वहाँ ठण्डे और गरम दोनों तरह के पानी का प्रबन्ध रहता था। बिछौना और भोजन दिया जाता था। जहाँगीर ने पुरानी सड़कों की मरम्मत करवा उन्हें और भी अच्छा कर दिया। अबुलफजल ने लिखा है किसी भी धनवान जातियों के बच्चों और नौजवानों के लिए पाठ-शालायें थीं। उस समय अपनी पाठशालाओं के लिए हिन्दुस्थान खूब प्रसिद्ध था। कुछ लोगों का यह ख्याल हो गया है कि मुगल बादशाह दिन-रात भोग-विलास में मग्न रहते थे। यह उनका भ्रम है। मुगल बादशाह बड़े बहादुर और परिश्रमी थे। वही सबसे बड़े सेनापति थे वही सबसे बड़े न्यायाधीश थे।

प्राचीनकाल से ही भारतवर्ष अपने कला-कौशल के लिए प्रसिद्ध है। अब-पहले के समान यहाँ कला-कौशल का वह गौरव नहीं है, तो भी कितने ही तीर्थस्थानों तथा अन्य नगरों में काम होता ही है। दिल्ली, मुर्शिदाबाद, लखनेऊ, अहमदाबाद, बनारस और श्रीनगर अपने कला-कौशल के लिए प्रसिद्ध हैं।

मराठों की वीरता और परिश्रमशीलता इतिहास-प्रसिद्ध है। इतिहास में राजपूतों की वीरता प्रसिद्ध है। मरुभूमि में रहकर इन्होंने अपनी स्वाधीनता की सदैव रक्षा की है। इन राज्यों में सब से प्रसिद्ध मेवाड़ है। महाराणा कुम्भ, महाराणा सांगा और महाराणा प्रताप के नाम सदैव बने रहेंगे। चित्तौड़ उसकी प्राचीन राजधानी है।

वीरता में सिक्ख भी प्रसिद्ध हैं। पंजाब उनका देश है। बाबा नानक ने हिन्दु-मुसलमानों को एक करने के लिए सिक्ख-सम्प्रदाय चलाया था, पर मुगल बादशाहों के अत्याचार से उनकी एक पृथक जाति ही बन गई। महाराज रणजीतसिंह ने तो सारे पंजाब पर सिक्खों का राज्य जमा दिया। पर उनके बाद सिक्खों का राज्य चला गया। अब भी सिक्ख बड़े वीर माने जाते हैं।

हम लोगों का भारतवर्ष साधारण देश है। यही सभ्यता की आदि-भूमि है। इसी ने सबसे पहले संसार में ज्ञान का आलोक फैलाया। अयोध्या और सरयू नदी को देखकर तुम्हें क्या भगवान् रामचन्द्रजी की याद नहीं आती ? अब तो वह एक छोटा-सा नगर है, पर कभी वह बड़ा वैभवशाली था। रामायण में उस समय का हाल है।

रामायण के समय में समाज कितना पवित्र था, जीवन का आदर्श कितना ऊँचा था। परिवार में एक दूसरे के साथ पूर्ण स्नेह था। राजा और प्रजा में बहुत प्रेम था। प्रजा-रंजन राजा का मुख्य कर्त्तव्य था। रामायण में भ्रातृ-प्रेम, पति प्रेम, पुत्र प्रेम और प्रजा-प्रेम सभी अतुल हैं। प्रतिज्ञा पालन तो उनका एक धर्म था।

"रघुकुल-रीति सदा चलि आई - प्राण जाय वरु वचन न जाई।"

वृन्दावन, मथुरा और द्वारका श्रीकृष्ण की लीला-भूमि हैं। पांडवों और कौरवों की अद्भुत कार्यकथा महाभारत में लिखी गई है। रामायण और महाभारत पढ़ने से हमें पता लगता है कि उस समय भारत की कितनी अच्छी दशा थी। बड़े-बड़े नगर थे। राजा प्रजा की भलाई में लगा रहता था। स्त्रियाँ भी पढ़ी लिखी थीं। अधिकांश लोग सत्यवादी थे। ब्राह्मणों का आदर सभी करते थे। वही समाज के नेता थे। साधारण स्थिति के लोग भी सुखपूर्वक अपना जीवन व्यतीत करते थे।

बौद्धकाल में मगध का राज्य विशेष प्रबल हुआ। इधर देखो, यह बिहार की पुण्य भूमि है, जहाँ प्राचीन-काल में जनक, याज्ञवल्क्य, गौतम, कपिल, गार्गी, मैत्रेयी, सीता, बुद्ध; महावीर आदि महान् आत्मायें हुई। इस प्रान्त का उत्तरीय भाग राजर्षि जनक का मिथिला देश है, जो एक समय ज्ञान का केन्द्र था। गंगा के किनारे यह लम्बा शहर बिहार की राजधानी पटना है इसी के पास राजगृह नामक स्थान है। जहाँ महाभारत-काल के महाराज जरासन्ध रहते थे। पटने

का पुराना नाम पाटलिपुत्र था। चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक, समुद्रगुप्त आदि हिन्दू सम्राटों का यही स्मारक है। चन्द्रगुप्त मौर्य के समय का वर्णन करते हुए मेगास्थनीज ने लिखा है—'आर्यावर्त में अनाचार का नाम नहीं है। स्त्रियाँ और पुरुष सभी बड़े सदाचारी हैं। लोग अपने द्वारों और घरों में ताला नहीं लगाते। कोई आर्य कभी झूठ नहीं बोलता।"

महाराज अशोक ने बौद्ध-धर्म का प्रचार किया। उन्होंने ६४०० स्कूल बनवाये, सड़कों पर कुएँ खुदवाये और वृक्ष लगवाये। मनुष्यों और पशुओं की चिकित्सा के लिए चिकित्सालय स्थापित किए। बौद्ध-धर्म की शिक्षा का प्रचार करने के लिए हजारों उपदेशक थे।

महाराज अशोक के बाद कनिष्क नामक एक बड़ा प्रतापी राजा हुआ। आजकल जिसे पेशावर कहते हैं, वहीं उसने अपनी राजधानी बनाई थी। दूर-दूर के राजाओं ने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली थी। उसी के समय नागार्जुन नामका एक विद्वान् हुआ था। उन दिनों भारत के व्यापारी व्यापार करने के लिए दूर-दूर के देशों में जाते थे। भड़ौंच बड़ा प्रसिद्ध बन्दरगाह था। लाखों रुपयों की चीजें भारत से हरसाल बाहर भेजी जाती थीं।

मुगलों के शासन-काल में यूरोप की कई जातियाँ व्यापार करने के लिए भारतवर्ष आईं। पहले यूरोप से भारत का व्यापार एशियाई कोचक या मिस्र के मार्ग से होता था। इटली का नगर वेनिस व्यापार का केन्द्र था। कुस्तुन्तुनिया उस समय बड़े महत्त्व की जगह थी। कुस्तुन्तुनिया पर मुसलमानों का अधिकार हो जाने पर स्थल-मार्ग प्रायः बन्द हो गये। तब यूरोप के लोग समुद्र मार्ग खोजने लगे। पोर्तुगाल का एक नाविक वास्को-डि-गामा सबसे पहले भारतवर्ष आया। फिर तो पोर्तुगाल के ही लोग व्यापार करने लगे। धीरे-धीरे, डच लोग आये, फिर अंग्रेज और उनके बाद फ्रांसीसी।

समय किसी का सदा एक सा नहीं जाता। मुगलों के भी गिरने का जमाना आया। औरंगजेब के समय में शिवाजी ने दक्षिण में मराठों का राज्य स्थापित किया। पंजाब में सिक्ख प्रबल होने लगे। अवध और बंगाल के सूबेदार स्वतन्त्र नवाब बन बैठे। दक्षिण में निजाम ने भी अपना एक स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लिया। पर ये राज्य भी अधिक दिनों तक स्वतन्त्र नहीं रह सके। इनको हराया अंग्रेजों ने जो यहाँ व्यापार करने के लिए आये थे। अंग्रेजों की जो कम्पनी यहाँ व्यापार करने के लिए आई थी, उसका नाम ईस्ट इण्डिया कम्पनी था। उसने जगह-जगह कोठियाँ खोलीं। फिर वह अपनी शक्ति बढ़ाने लगी। सबसे पहले क्लाइव ने बंगाल के सूबेदार सिराजुद्दौला को हराकर वहाँ अंग्रेजों की प्रभुता स्थापित की। उसके बाद मार्क्विस आफ वेलेस्ली ने अंग्रेजों की प्रभुता खूब बढ़ा दी। लार्ड हार्डिंज और लार्ड डलहौजी ने सिक्खों को भी हराया और भारत पर एकमात्र अंग्रेजों का अधिकार रह गया। इसके बाद भारत में सन् १८५७ ई० में प्रथम स्वाधीनता संग्राम हुआ। उसमें झाँसी की महारानी लक्ष्मीबाई ने अपूर्व शौर्य प्रदर्शित किया। पर वह संग्राम विफल हुआ।

अंग्रेजों का प्रभुत्व भारत पर बना रहा। फिर स्वराज्य के लिए कांग्रेस की प्रतिष्ठा हुई। महात्मा गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस ने जनता में स्वाधीनता के लिए अदम्य लालसा उत्पन्न कर दी।

सन् १९१८ में यूरोप का प्रथम महायुद्ध समाप्त हुआ था। उसके बाद सन् १९३९ में युद्ध की ज्वाला फिर से प्रज्वलित हो उठी। यह युद्ध पहले युद्ध से कहीं अधिक प्रलयंकर सिद्ध हुआ। और उसका प्रभाव समस्त विश्व पर पड़ा। सन् १९१८ के महायुद्ध ने यूरोप में एकतंत्र-शासन और साम्राज्यवाद का अंत कर दिया था। परन्तु २१ वर्ष के बाद ही उसके विरुद्ध जो प्रतिक्रिया हुई, उसने नाजीज्म और फैसिज्म को जन्म दिया। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस द्वितीय

विश्व-संग्राम के मूल में भी साम्राज्य की प्रवृत्ति ही काम कर रही थी। इसके अतिरिक्त वारसायी की संधि द्वारा जर्मनी के साथ न्याय नहीं किया गया था। यह तो स्पष्ट था कि लोकतन्त्रवाद और अधिनायकवाद में दो विभिन्न प्रवृत्तियाँ काम कर रही थी, उनके बीच में संघर्ष अवश्यम्भावी था। १ सितम्बर १९३९ को विश्व संग्राम का आरम्भ हुआ। जापान और अमेरिका भी उस युद्ध में सम्मिलित हो गये। भारतवर्ष में स्वतंत्रता के आन्दोलन को उसी ने तीव्रतर कर दिया। बात यह हुई कि द्वितीय महायुद्ध के समय ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने युद्ध के उद्देश्यों पर प्रकाश डालना अस्वीकार कर दिया। उस समय कांग्रेस मंत्रिमण्डल एक विशेष संकट में पड़ गया। महात्मा गांधी युद्ध के सर्वथा विरोधी थे। ब्रिटिश शासन के साथ सहयोग का अर्थ यह होता कि देश की जनता महायुद्ध में अंग्रेज का साथ दे रही है। तभी 'भारत छोड़ो' आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। उस समय पं० जवाहरलाल नेहरू ने 'भारत छोड़ो' का प्रस्ताव कांग्रेस में रखा और उसके समर्थन में सरदार पटेल ने कहा कि यदि इंग्लैंड और अमेरिका यह सोच रहे हों कि वे चालीस करोड़ जनता की सहायता के बिना ही युद्ध में सफलता प्राप्त कर लेंगे तो यह सोचना उनकी पूरी मूर्खता है। लोगों को यह ज्ञात हो जाना चाहिए कि यह जनता की लड़ाई है और उन्हें अपने देश और अपनी स्वतन्त्रता को कायम रखने के लिए लड़ना है। रूस जिस युद्ध में उलझा है वह जनता का युद्ध है। चीन जो लड़ाई लड़ रहा है वह भी जनता का ही युद्ध है,। किन्तु जब भारत पर भारतीय जनता का अधिकार ही नहीं है तब वह जनता का युद्ध कैसे कहा जा सकता है? भारतवर्ष जापानी घोषणाओं में विश्वास नहीं कर सकता। अंग्रेज हर सूरत में यहाँ से चले जावें। महात्मा गांधी ने कहा कि हम लोगों का स्वतन्त्रता-युद्ध अत्यन्त ही संक्षिप्त एवं तीव्रगामी होगा। ९ अगस्त १९४२ में देश के सभी नेता पकड़ लिए गये और जेलों में भेज दिये गये।

१ सितम्बर सन् १९४६ को लार्ड वैवल ने अन्तःकालीन सरकार की स्थापना की। १५ अगस्त सन् १९४७ को देश स्वतन्त्र हो गया। भारतवर्ष के इस स्वाधीनता दिवस में सभी लोगों को परमानन्द हुआ। पहली बार देश भर में राष्ट्र की पहली ध्वजा फहराई गई।

राष्ट्र की ध्वजा राष्ट्र के गौरव को प्रकट करती है। हम लोगों की राष्ट्र ध्वजा हमें राष्ट्रीय उन्नति का मर्म समझाती है। किसी भी राष्ट्र की सच्ची उन्नति उनकी कर्मशक्ति की गति और उसके सुशासन की सुव्यवस्था पर निर्भर रहती है। संसार में अपने कर्म चक्र या शासनचक्र को प्रवर्तित करने के लिए यह आवश्यक है कि हमारे जीवन में ज्ञान के साथ शक्ति और शक्ति के साथ सम्पत्ति का मेल हो। बिना ज्ञान शक्ति केवल विनाशकारिणी होती है और संपत्ति भी हमें अधःपतन की ओर खींच ले जाती है। एकमात्र सम्पति या शक्ति के उपार्जन से राष्ट्र की सच्ची उन्नति संभव नहीं है। यह बात सभी लोग जानते हैं कि ज्ञान की देवी सरस्वती शुक्लवसना है। इसी प्रकार शक्ति की देवी दुर्गा रक्तवसना है और भगवती वसुन्धरा, जिसके द्वारा हम लोगों को सम्पत्ति प्राप्त होती है हरित वसना है। चक्र के साथ सफेद, लाल और हरे रंग का जो मेल हम लोग अपनी इस राष्ट्रीय ध्वजा में पाते हैं उससे हमें सदैव यह शिक्षा मिलती रहनी चाहिए कि अपने देश की उन्नति के लिए, कर्मचक्र प्रवर्तित करने के लिए, हमें शक्ति, ज्ञान और सम्पत्ति—तीनों का समान रूप से उपार्जन करने का प्रयत्न करना होगा। किसी भी एक की उपेक्षा करने से हम लोगों के राष्ट्रीय जीवन का कर्मचक्र अवरुद्ध हो जायगा। जो ज्ञान के उपासक हैं उन्हें शक्ति के उपासकों के साथ व्यवसाय और कृषि के उपासकों से भी पूर्ण सहयोग करना चाहिये। ये चारों, ज्ञान, व्यवसाय और कृषि एक दूसरे से संचित होकर ही जीवन को पूर्णरूप से विकसित करते हैं। हम में ज्ञान का सात्विक शुभ्र भाव होना चाहिए, इसी से श्वेत वर्ण की महिमा है। हम में शौर्य की लालिमा की दीप्ति होनी चाहिये।

इसी से लाल अथवा केसरिया रंग वीरों के लिए है। हरे रंग में पीत वर्ण के साथ श्याम वर्ण का समावेश होता है। जैसे सुवर्ण का पीतवर्ण व्यवसाय की सम्पत्ति को प्रकट करता है, वैसे ही शस्य की श्यामलता और मेघों की श्यामता कृषि की समृद्धि व्यक्त करती है। अतएव हम में भी अपनी भू माता की सच्ची सेवा कर व्यवसाय और कृषि के द्वारा सुवर्ण और अन्न के रूप में संपत्ति प्राप्त कर उसकी हरीतमा से हरित-द्युति होनी चाहिए। मेरी समझ में राष्ट्रीय ध्वजा के इन तीन रंगो का मेल हम लोगों को कर्मयोग का सच्चा पाठ सिखाता है।

भारतीय इतिहास और संस्कृति का विकास

[१]

संसार परिवर्तनशील है। उत्थान और पतन का चक्र यहाँ अनादि काल से घूम रहा है। मानव-जाति अपने उद्योग से क्रमशः उन्नति के शिखर पर पहुँच जाती है, फिर उसकी क्रमशः अवनति होने लगती है। और अन्त में वह बिलकुल अधोगति को पहुँच जाती है। अभी तक विद्वानों की यह राय थी कि पहले मानव-जाति अत्यन्त असभ्यावस्था में थी, क्रमशः उन्नति कर वह आधुनिक सभ्यता का निर्माण कर सकी है। विकासवाद का यह सिद्धान्त यह भी कहता है कि मानव-जाति भी सभ्यता के विकास का ही फल है। मनुष्यों के पूर्व-पुरुष बन्दर थे। बन्दरों की अवस्था का विकास होने पर वही मानव-जाति में परिणत हुए। एक विद्वान् ने इस सिद्धान्त के बिलकुल विपरीत मत का समर्थन किया है। उनका कथन है कि मनुष्य बन्दरों के वंशधर ही नहीं, किन्तु उनके पूर्व-पुरुष हैं। उनकी राय है कि पूर्व ऐतिहासिक काल में मानव-जाति ने पहले तो सभ्यता की खूब उन्नति की। फिर उनकी सभ्यता का ह्रास होने लगा। अन्त में वे बिलकुल असभ्य हो गये। उनकी यह असभ्यता बढ़ती ही गई। वे बर्बर हो गये, यहाँ तक कि अन्त में वे मनुष्य से बन्दर हो गये। आज कल संसार उन्नति के पथ पर अग्रसर हो रहा है। परन्तु यदि हम मिथ्या शिक्षा के भ्रमजाल में पड़ कर स्वाभाविकता की ओर न जाकर अवनति के पथ पर जाने लगें तो कुछ हजार वर्षों के बाद पृथ्वी पर फिर मानव-जाति वानर जाति के रूप में परिणत हो जाय।

चीन, मिस्र, रूस, इटली तथा अन्य देशों में जो नये नये अनुसंधान हुए हैं, उनसे यह सिद्ध होता है कि जब अमरीका का संयुक्त

राज्य जलमग्न था, तब पृथ्वी पर सभ्यता का पूरा प्रसार था। वह सभ्यता अटलांटिक महासागर से भी प्राचीनतर है। उस समय पृथ्वी पर जो मानवजाति निवास करती थीं वह वर्तमान मनुष्य-जाति से अधिक सभ्य थी। उसकी सभ्यता के उत्कर्ष का फल यह हुआ कि मनुष्य महामानव हो गये (मानव-जाति का अतिक्रमण कर गये) उनकी मस्तिष्क शक्ति हद से बाहर हो गयी। तब उनकी बुद्धि नष्ट होने लगी। उनमें कामुकता और पशुत्व की प्रबलता होने लगी। अन्त में वे लोग बिलकुल पशु हो गये। वही बन्दर हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि उन्नति और अवनति प्रकृति का नियम है। कितनी ही जातियाँ उन्नति के चरम शिखर पर पहुँच कर अन्त में अवनति के गर्त में गिर जाती हैं। उनकी उन्नति और अवनति के कारण जान लेने से मनुष्य-समाज अपने लिए उन्नति का पथ निर्दिष्ट कर सकता है इसीलिए इतिहास की आवश्यकता है।

इतिहास का मुख्य उद्देश्य है अतीतकाल का वर्णन करना। यह मनुष्य मात्र का स्वभाव है कि वह अपने गौरव की स्मृति-रक्षा के लिए कुछ न कुछ अवश्य प्रयत्न करता है। वह चाहता है कि लोग उसके गौरव को न भूलें। इसी उद्देश्य से कोई मन्दिर बनवाता है तो कोई कीर्ति-स्तम्भ खड़ा करता है। कोई अपनी शक्ति से कुछ ऐसा काम ही कर जाता है जिसके कारण लोगों को उसकी याद बनी रहती है। जिस जाति में ऐसे लोग जन्म लेते हैं वह जाति अपने को धन्य समझती है। वे जाति के शिरोभूषण हो जाते हैं। जाति को उनका गर्व रहता है। वे अपने गौरव से जाति का गौरव बढ़ाते हैं। ऐसे लोगों को जाति भूलना भी नहीं चाहती, क्योंकि उनका चरित्र अनुकरणीय होता है। इसीलिए जाति स्वयं उनकी चरित्र, कथा को अक्षय बनाये रखती है। इतिहास का आरम्भ इन्हीं कथाओं से होता है। इन कथाओं का उद्देश्य चरित्रगत गुरुता की ही रक्षा करना है। इसके लिए घटना गौण है। इन्हें किसी घटना का

यथार्थ वर्णन करना नहीं है, इन्हें मानवीय चरित्र की गुरुता बतलाना है। अतएव यदि घटना को कुछ परिवर्तित कर देने से चरित्र का महात्म्य बढ़ जाता है तो कथाओं में वैसा करना अपराध नहीं है। संसार में जितनी कथायें प्रचलित हैं उनमें यही भाव विद्यमान् है। उन सब में चरित का महात्म्य है। प्रारम्भ में इतिहास और कथा में कोई भेद नहीं था। परन्तु पीछे से भेद हो गया। कथा में कल्पना की प्रधानता हुई है और इतिहास में सत्य की।

प्राचीन इतिहासों में राजाओं के कृत्यों का वर्णन है। इसका कारण यह है कि उस समय राजा की जाति के प्रतिनिधि थे, उन्हीं में जाति की समस्त शक्ति केन्द्रीभूत हो गई थी। राजशक्ति का ह्रास होने पर जब जाति में शक्ति प्रकट होने लगी तब आधुनिक इतिहासकारों ने जाति की विकास कथा को अपनाया! उस समय उन्हें जाति के समस्त कृत्यों पर ध्यान देना पड़ा। जाति की शक्ति का उच्चतम विकास साहित्य और कला में हुआ है। अतएव जाति के उत्थान-पतन को समझने के लिए उन्हें जातीय साहित्य और कला की भी पर्यालोचना करनी पड़ी। भिन्न-भिन्न जातियों में पारस्परिक संघर्ष हुआ है। अतएव एक जाति का विकास देखने के लिए दूसरी जातियों की भी विशेषताओं पर ध्यान देना पड़ता है। अतएव साहित्य और कला की तुलनो-मूलक विवेचना होने लगी। किसी जाति का विशेषत्व जानने के लिए यह आवश्यक है कि उसके परम्परागत संस्कारों की आलोचना की जाय। अतएव जाति के सम्बन्ध में ऐसी कोई भी छोटी बात नहीं हो सकती जिसके ज्ञान से इतिहास को लाभ न हो। प्राचीन काल में हमारे पूर्वज कहाँ रहते थे, कैसे रहते थे, किन-किन लोगों से उनका सम्बन्ध था, उनको समाज कैसा था; उनकी चाल-ढाल कैसी थी; आदि बातों को जानना आवश्यक हो गया है। प्राचीनकाल में कितनी ही ऐसी जातियाँ हो गई हैं। जिनका अब अस्तित्व तक नहीं है। निर्बल जातियाँ या

तो नष्ट हो गईं या सबल जातियों में लुप्त हो गईं। परन्तु जातियों के इस पारस्परिक सम्मिलन का भी प्रभाव पड़ा। अतएव जिनका अब अस्तित्व भी नहीं है, उनकी भी विशेषता जानना आवश्यक है। भूगर्भशास्त्र के द्वारा कितनी ही प्राचीनतम जातियों के अस्तित्व का पता लगा और उसी से उनके विषय में विद्वानों को कितनी ही बातें मालूम हुईं। भाषा की आलोचना से मालूम हुआ कि जो जातियाँ आज पृथक् हैं वे कभी एक थीं तब उनकी मूल-जाति की विवेचना होने लगी, इस प्रकार इतिहास का विकास होता ही जा रहा है।

इतिहास का ज्ञान प्राप्त करने के लिए ऐतिहासिक तत्वों के अनुसन्धान में कितने ही विद्वान् आजीवन प्रयत्न करते रहते हैं। भारतवर्ष की सभ्यता बड़ी प्राचीन है। प्राचीनकाल में उसके विज्ञान, वाणिज्य आदि में उन्नति भी खूब की थी। कितने ही देशों में उसी ने विद्या और विज्ञान का प्रचार किया। परन्तु प्राचीन भारतवर्ष का इतिहास अभी तक नहीं बना है। पाश्चात्य विद्वानों ने प्राचीन भारतवर्ष के सम्बन्ध में अच्छी गवेषणा की है, कितने ही भारतीय पुरातत्वों का अनुशीलन कर उसके इतिहास की अच्छी उन्नति की है। ऐतिहासिक परीक्षा का सबसे बड़ा अवरोधक अन्धविश्वास और पक्षपात है। कुछ तो जातिगत संस्कारों के कारण और कुछ मिथ्याभिमान के कारण भारतीय साहित्य और इतिहास की समीक्षा में विद्वानों तक ने भ्रमपूर्ण सिद्धान्तों की पुष्टि की है।

संस्कृति के विकास में तीन मुख्य कारण हैं, जातीय संस्कार, देश और काल। जातीय संस्कार वे हैं जो किसी विशेष जाति के सभी व्यक्तियों में पाये जाते हैं। अपने इन्हीं संस्कारों के कारण मनुष्य जाति से कोई जाति पृथक की जा सकती है। देश और काल के व्यवधान से भी ये संस्कार सर्वथा नष्ट नहीं हो जाते। एक आर्य जाति का ही उदाहरण लीजिये। आर्य जाति की अनेक शाखायें हो गई हैं। वे अब भिन्न-भिन्न स्थानों में रहने लगी हैं। सैकड़ों वर्षों से वे एक दूसरों से

पृथक् हो गई हैं तो भी उनका मूल भाव नष्ट नहीं हुआ है। आर्य जाति की सभी शाखाओं में वह मूल भाव विद्यमान् है जिसके कारण आज भी वे सभी अपने को आर्यजाति में सम्मिलित करा सकती हैं।

भारतवर्ष के साहित्य और कला में आध्यात्मिक भावों की जो प्रधानता है उसका कारण यह देश ही है। काल का प्रभाव दो रूपों में व्यक्त होता है। जाति भविष्य के लिए जो सामग्री छोड़ जाती है उसका उपयोग कर कालान्तर में उसकी सन्तान साहित्य की श्री-वृद्धि करती है। इसके साथ ही भिन्न-भिन्न जातियों के पारस्परिक-संघर्ष से जो उत्क्रान्ति उत्पन्न होती है उसका भी प्रभाव साहित्य पर अंकित हो जाता है। वर्तमान हिन्दी साहित्य पर प्राचीन आर्य जाति का प्रभाव स्पष्ट है। उसी प्रकार उस पर इस्लाम सभ्यता एवं आधुनिक यूरोप का भी प्रभाव विद्यमान है। इन सब प्रभावों से जाति की उन्नति और अवनति होती है वह उसके साहित्य में स्पष्ट दिखाई पड़ती है।

भारतीय साहित्य के प्राचीनतम ग्रन्थ वेद हैं। वाह्य जगत के साथ मनुष्यों का सम्पर्क होने से उनके हृदय में हर्ष और विस्मय, आधार और आतंक की जो भावनायें उद्भूत होती हैं, वे उनमें विद्यमान हैं। भावों की विशदता और भाषा की शक्ति में वैदिक मन्त्रों के साथ संसार के किसी भी काव्य की तुलना नहीं हो सकती। उनमें प्रकृति का आवरण दूर कर अन्तिम सत्य का रूप जानने की चेष्टा की गई है। हिन्दू की दृष्टि में वेद उसके सामाजिक और आध्यात्मिक जीवन का अनन्त स्रोत है। इसमें सन्देह नहीं कि वेदों ने ही हिन्दू-साहित्य और विज्ञान की गति निर्दिष्ट कर दी। वेदों के कर्म-काण्ड और ज्ञान-काण्ड से हिन्दू धर्म-शास्त्रों और वेदान्त-शास्त्रों की सृष्टि हुई।

शास्त्रों का कथन है कि जिन नियमों के द्वारा हमारे वाह्य और अन्तर्जीवन का संगठन होता है, उनका न आदि है और न अन्त।

वे स्वतः प्रसूत हैं। अतएव उन्हें शिरोधार्य करना मनुष्य मात्र का कर्त्तव्य है। सदाचार और कर्त्तव्य विधि में कोई भेद नहीं है। पवित्र जीवन उसी का समझा जाता जो अपने समाज-निर्दिष्ट सभी कर्मों को करता है। यही कारण है कि आज तक हिन्दुओं में व्यक्ति की अपेक्षा समाज का अधिक प्राबल्य है। वेदान्त शास्त्र की शिक्षा इसके बिलकुल विपरीत है। उसने सामाजिक जीवन की उपेक्षा कर प्रत्येक व्यक्ति के आत्मिक विकास पर जोर दिया है।

क्रमशः वैदिक साहित्य जन साधारण की सम्पत्ति न होकर कुछ ही लोगों की सम्पत्ति हो गयी। भारतवर्ष के सर्व-साधारण के मानसिक विकास में रामायण और महाभारत ने खूब काम किया। उनका प्रभाव आज तक अक्षुण्ण है। इन्हीं दो महाकाव्यों के आधार पर संस्कृत का विशाल साहित्य निर्मित हुआ है। संस्कृत के जितने कवि और नाटककार हुए हैं, सभी ने रामायण और महाभारत का आश्रय ग्रहण किया है।

महाभारत प्राचीन-हिन्दू साहित्यागार की अक्षय निधि है। उसके आधार पर अनन्त ग्रन्थों की रचना हो चुकी है। संस्कृत-साहित्य के प्रायः सभी कवियों ने उसी के कथा-भाग का अवलम्बन कर कितने काव्य और नाटक लिख डाले। महाभारत में हिन्दू-धर्म का विशद् विवेचन है। उसी में कर्म और ज्ञान का रहस्य समझाया गया है। राजनीति और समाज-शास्त्र की विस्तृत व्याख्या उसी में की गई है। सारांश यह है कि ऐसा कोई भी शास्त्रीय विषय नहीं है जिसका निरूपण महाभारत में न किया गया हो इसीलिए कहा गया है:—

धर्मेचार्थे च कामे च मोक्षे च पुरुषर्षभ
यदि हास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्।

अर्थात् महाभारत में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों का वर्णन है, जो इसमें है वही अन्यत्र है, जो इसमें नहीं है वह दूसरी जगह भी नहीं है।

महाभारत विशाल ग्रन्थ है। उसके कर्त्ता वेद-व्यास माने जाते हैं। वही अठारह पुराणों के भी रचयिता कहे जाते हैं। यद्यपि ग्रीक साहित्य के एक नाटककार के विषय में भी यह कहा जाता है कि उसने अकेले सैकड़ों नाटकों की रचना की है, तथापि महाभारत की विशालता देखकर कुछ विद्वानों ने यह निर्णय किया है कि यह असंभव है कि इतने बड़े ग्रन्थ की रचना एक ही मनुष्य ने की हो। दूसरी बात यह है कि महाभारत में जिन परिस्थितियों का वर्णन है उनके अनुसार महाभारत एक ओर तो वैदिक काल तक पहुँच जाता है और दूसरी ओर अर्वाचीन काल के बौद्ध और जैन ग्रन्थों तथा ग्रीक लोगों के इतिहास ग्रन्थों से आ मिलता है। अतएव इस दीर्घ काल व्यापी सभ्यता का वर्णन एक ही व्यक्ति नहीं कर सकता। भारतीय सभ्यता की धारा सदैव मन्द ही रही है, क्योंकि भारतीय प्राचीनता के पक्षपाती ही रहे हैं। वाह्य संघर्षों से ही सभ्यता में शीघ्र परिवर्तन होता है। और प्रायः उच्च जाति ही का प्रभाव निम्न जाति पर अधिक पड़ता है। भारतीय आर्यों ने अनार्यों से कुछ-न-कुछ जरूर ही लिया होगा। परन्तु अनार्यों पर उनका इतना प्रभाव पड़ा कि उनकी सभ्यता ही लुप्त हो गई। प्राचीन काल में भारत ही सभ्यता का केन्द्र था। अतएव यही अधिक सम्भव जान पड़ता है कि वैदिक काल से लेकर बौद्ध काल तक भारत की परिस्थिति में विशेष परिवर्तन न हुआ हो तो भी इसमें सन्देह नहीं कि महाभारत में बौद्धकालीन स्तूपों तक का उल्लेख है। अतएव ऐसे स्थलों को प्रक्षिप्त मानना ही पड़ेगा। वैद्य जी का कथन है कि वर्तमान महाभारत के कर्त्ता तीन हैं। तीन से अधिक मानना निराधार है। ये तीन हैं—व्यास, वैशम्पायन और सौति। मूल ग्रन्थ ऐतिहासिक था। उसका नाम जय था। उसी के कर्त्ता व्यास जी हैं। यही ग्रंथ भारत कहा गया है और अन्त में जब उसका विस्तार बढ़ गया तब वह महाभारत हो गया। हम वैशम्पायन के ग्रन्थ को भारत और सौति

की कृति को महाभारत कह सकते हैं। वैद्य जी का यह सिद्धान्त है कि महाभारत का वर्तमान स्वरूप शक के पहले तीसरी शताब्दी में गठित हुआ है। उस समय जैन और बौद्ध धर्मों के आघात से सनातन-धर्म की दुरावस्था हो रही थी। इसीलिए सौति ने भारत को महाभारत का वृहत् स्वरूप देकर सनातन-धर्म के अन्तस्थ विरोधों को दूर कर दिया। मूल ग्रंथ और वैशम्पायन के भारत में विशेष अन्तर नहीं था। भारत में सिर्फ २४००० श्लोक थे और अब महाभारत में एक लाख श्लोक हो गये हैं। यह अधिक संख्या सौति की जोड़ी हुई है परंतु ये भाग व्यास जी के मूल ग्रंथ की स्फूर्ति से ही जोड़े गये हैं। ऐसी अवस्था में इन भागों का कर्तृत्व भी व्यास जी को ही दिया जा सकता है।

महाभारत के निर्माण-काल के विषय में वैद्य जी की राय है कि महाभारत के काल की सबसे नीचे मर्यादा सन् ५० ईसवी है। डायोन क्रायसोस्टोम नाम का एक ग्रीक लेखक ईसवी सन् की पहली शताब्दी में दक्षिण-भारत के पाण्डय, केरल इत्यादि भागों में आया था। उसने लिखा है कि भारतवर्ष में एक लाख श्लोकों का इलियड है। डायोन क्रायसोस्टोम का यह साक्ष्य अत्यन्त महत्व का है। यह तो महाभारत-काल की सब से नीचे की मर्यादा हुई। पर महाभारत के काल की ऊँची मर्यादा कौन-सी है? महाभारत में यवनों का बार-बार उल्लेख किया गया है। आदि पर्व में वर्णन है कि जिस यवन राजा को वीर्यवान पांडु भी न जीत सका उसे अर्जुन ने जीत लिया। यह बात प्रसिद्ध है कि यवनों से हमारा परिचय पहले पहल सिकन्दर के समय हुआ। अतएव सिकन्दर की चढ़ाई को, अर्थात् ईसवी सन् के ३२० वर्ष पहले के समय को हम महाभारत-काल की पूर्व मर्यादा निश्चित कर सकते हैं।

कुछ विद्वान् भारतीय युद्ध को काल्पनिक मानते हैं। वेबर और रमेशचन्द्रदत्त की यही राय है। वैदिक साहित्य में भारतीय युद्ध

अथवा भारतीय योद्धाओं का कुछ भी उल्लेख नहीं है। परन्तु एतरेय ब्राह्मण में वैचित्रवीर्य, धृतराष्ट्र का उल्लेख है। फिर वैदिक साहित्य के ग्रंथ इतिहास तो नहीं है। वे तो धार्मिक ग्रन्थ हैं। प्रसंगानुसार उनमें किसी राजा अथवा व्यक्ति का नाम देख पड़ता है। यदि उनमें भारतीय युद्ध का उल्लेख नहीं है तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इससे यह प्रमाणित नहीं होता कि भारतीय युद्ध काल्पनिक है। वह कब हुआ इसके विषय में वैद्य जी ने सभी प्रमाणों पर विचार कर यह निश्चय किया है कि ईसा के ३१०१ वर्ष पहले यह युद्ध हुआ था। मेगास्थनीज के कथनानुसार यह अनुमान किया जा सकता है कि श्रीकृष्ण चन्द्रगुप्त के २७६० वर्ष पहले हुए। इस हिसाब से श्रीकृष्ण का समय ईसा के ३०३२ वर्ष पहले हुआ। यही कलियुग के आरंभ-काल का निकटवर्ती समय है।

[२]

भारतीय इतिहास में बौद्धयुग सबसे अधिक महत्व-पूर्ण है। सच पूछिये तो बौद्धयुग से ही भारतवर्ष का प्रारम्भिक इतिहास प्रारंभ होता है। बौद्धयुग में भारतीय सभ्यता की विशेष श्रीवृद्धि हुई है। साहित्य और कला, विज्ञान और दर्शन की विशेष उन्नति इसी युग में हुई है। बौद्धधर्म के प्रचारकों द्वारा भारतीय सभ्यता की विस्तृति विदेशों में भी हुई। सम्राट् अशोक के शासन काल में बौद्ध श्रमण सीरिया, स्याम; मिस्र, और मकदुनिया तक गये थे। भारतीय धर्म ही नहीं, भारतीय चित्रकला, मूर्ति-निर्माण विद्या और संगीत तक ने मध्य-एशिया, चीन और जापान में विस्तृति प्राप्त की थी।

ईसा के लगभग ६०० वर्ष पहले भगवान बुद्ध का आविर्भाव हुआ था। उन्होंने विश्व की यातनाओं को दूर करने के लिए सत्य चतुष्टय के उपदेश किये। इस प्रकार ईसा के ६०० वर्ष पहले बौद्ध युग का आरंभ होता है और ईसा की छठीं शताब्दी में उसका अवसान

होता है। बौद्ध युग के प्रारंभकाल में शिशुनागवंश की विशेष प्रतिपत्ति थी। राजा बिम्बसार और अजातशत्रु के नाम विशेष प्रसिद्ध हैं। ईसा से ३२३ वर्ष पूर्व चन्द्रगुप्त मौर्य ने मगध के राज्य को हस्तगत किया और २४ वर्ष तक उसने उत्तर भारत पर शासन किया वही भारत का पहला सम्राट कहा जा सकता है। उसका राज्य दक्षिण तक फैल चुका था। उसने सिल्यूकस को परास्त कर काबुल, कन्धार और हिरात को हस्तगत कर लिया था। उसके बाद उसके पुत्र बिन्दुसार ने २५ वर्ष तक शासन किया। इसके बाद अशोक सिंहासन-रूढ़ हुआ। अशोक ने युवावस्था में बौद्धधर्म स्वीकार किया और उसी के प्रचार में वह आजीवन लगा रहा। मौर्यकाल में भारतवर्ष सुख और समृद्धि से पूर्ण था। अशोक के बाद मौर्य-साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया।

कुशान-वंश का आधिपत्य ईसा के १० वर्ष पहले सन् ३५० ईसवी तक रहा। उसी समय आन्ध्रों का भी प्रभुत्व बढ़ा। उनका यह प्रभुत्व ईसाकी चतुर्थ शताब्दी तक रहा। तिब्बती और चीनी ग्रन्थों से विदित होता है कि कनिष्क अथवा कणिक कुशान-वंश के सभी राजाओं के लिए व्यवहृत होता था, जिस प्रकार सर रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर की राय में सातवाहन आन्ध्रवंश के सभी राजाओं का नाम था। संस्कृत में त्रिपिटक को क्रमबद्ध करने के लिए बौद्ध विद्वानों की चौथी समिति जालन्धर में बैठी थी। इस समिति के संरक्षक कुशानवंश के एक कनिष्क थे। जान पड़ता है कि इसी कनिष्क के पुत्र के लिए प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् अश्वघोष ने "महाराज कणिक-लेख" लिखा था। इसका अनुवाद तिब्बत के एक बौद्ध विश्वकोष में अभी तक सुरक्षित है। उसमें कनिष्कसुत सूर्यवंशोत्पन्न कहा गया है और उसे देव का अनुसरण करने के लिए उपदेश किया गया है। यह देव शब्द देवता के अर्थ में व्यवहृत हुआ है। और इससे आर्य देव की ओर भी इशारा किया गया है। कनिष्कसुत आर्यदेव का

समसामयिक था और उसके पूर्वजों को भारतवर्ष में राज्य शासन करते कितने ही वर्ष बीत चुके होंगे, तभी तो वह सूर्य वंशोद्भव कहा गया।

नागर्जुन अश्वघोष का समकालीन था। उसने आन्ध्रवंश के किसी सातवाहन नरपति को एक पत्र लिखा था। इसका भी अनुवाद तिब्बती भाषा में विद्यमान् है। उसमें नरपति के नाम का स्पष्टोल्लेख है। वह नाम है उदयिभद्र। आज तक आन्ध्रवंश के जितने नरेशों का पता लगा है, उनमें उदियभद्र मान का कोई राजा नहीं है। संभव है यह कोई राजा नहीं है। संभव है यह कोई स्वतंत्र अधिपति न रहा हो, कोई क्षमताशाली सामन्त राजा ही रहा हो।

कुमारजीव के एक चीनी शिष्य ने लिखा है कि आर्यदेव का आविर्भाव बुद्धदेव के निर्वाण पद प्राप्त करने के ८०० वर्ष बाद हुआ था। ईसा के ४८० वर्ष पूर्व बुद्ध का निर्वाण काल माना जाता है। इस हिसाब से आर्यदेव और उसका समकालीन कवि अश्वघोष सन् ३२० ईसवी के लगभग हुए होंगे। तब नागर्जुन का स्थितिकाल सन् ३०० में माना जा सकता है और कनिष्क का शासनकाल भी इसी समय में होना चाहिये, क्योंकि उसी के संरक्षण में बौद्धों की चतुर्थ समिति सम्मिलित हुई थी। यह समय मान लेने पर राजतरंगिणी का यह कथन भी सार्थक हो जाता है कि कनिष्क और मिहिरकुल (सन् ५१५ ईसवी) के मध्यवर्ती बारह नरेश हुए। लामा तारानाथ ने लिखा है कि नागार्जुन नेमिचन्द्र नामक-अपरान्तक के अधिपति के शासन काल में हुए थे। उसकी मृत्यु के बाद मगध देश में दो और छोटे-छोटे राजाओं की प्रभुता रही। इसके बाद चन्द्रगुप्त ने सन् ३१६ ईसवी में गुप्त साम्राज्य स्थापित किया।

कनिष्क की बौद्ध समिति ने बौद्धों में संस्कृत साहित्य का प्रचार किया। आन्ध्रवंश के पिछले राजाओं ने भी संस्कृत साहित्य की उन्नति के लिए विद्वानों को प्रोत्साहित किया। गुप्तवंश के राजाओं

के शासन काल में ब्राह्मणों ने भी संस्कृत साहित्य की उन्नति की। संस्कृत साहित्य के पुनरुद्भव युग को हम तीन कालों में विभक्त कर सकते हैं। पहले काल में नागार्जुन (सन् ३०० ईसवी) आर्यदेव (सन् ३२०) और अश्वघोष (सन् ३२० ईसवी) हुए। दूसरे काल प्रशस्तपाद, वात्स्यायन (सन् ४०० ईसवी) और शवर स्वामी हुए। तीसरे काल में दिङ्नाग (सन् ५०० ईसवी), कालिदास (५३० ईसवी) और वराहमिहिर (५०५-५७५ ईसवी) हुए। पुराणों की रचना इसी काल में हुई।

संस्कृत साहित्य के पुनरुद्भवकाल का पहला ग्रन्थकार नागार्जुन था। नागार्जुन का नाम वैद्यकशास्त्र और रसायनशास्त्र में जितना प्रसिद्ध है उतना ही दर्शन शास्त्र में है। नागार्जुन का जन्म विदर्भ में हुआ था। उस समय आन्ध्र वंश का सातवाहन राज्य कर रहा था। कृष्णानदी के तीर पर त्रिपवर्त की एक गुहा में नागार्जुन ने कुछ समय तक चिन्तन किया। अमरावती स्तूप के पास की एक बुद्धमूर्ति पर जो लेख खुदा है उससे यह विदित होता है कि नागार्जुन विदर्भ-देश में अवश्य रहते थे। इस लेख की लिपि सातवीं शताब्दी की है। सन् ४०१ के परवर्ती तो नागार्जुन हो ही नहीं सकते क्योंकि इसी समय कुमारजीव ने चीनी भाषा में उनका जीवन चरित लिखा था। अतएव यही मानना अधिक उचित होगा कि नागार्जुन सन् ३०० ईसवी में हुए।

नागार्जुन ने न्यायशास्त्र पर कई ग्रन्थ लिखे हैं। जान पड़ता है कि वात्स्यायन ने उनके ही एक ग्रंथ-विग्रह-व्यावर्तनी कारिका-से अपने न्याय भाष्य में कुछ अवतरण उद्धृत किये हैं। नागार्जुन का कीर्ति-स्तम्भ है उनका माध्यमिक दर्शन। पक्षपात रहित विद्वानों की राय है कि शंकराचार्य का मायावाद उसी से मिल गया है। सच तो यह है कि नागार्जुन भारतवर्ष के अरिस्टाटिल थे।

ईसा की तीसरी शताब्दी के आरंभ में कुशानवंश का अन्त हो गया। चौथी शताब्दी के आरंभ में गुप्त साम्राज्य का उदय हुआ। गुप्तों के शासनकाल में भारतवर्ष की सभ्यता चरम सीमा को पहुँच गई थी। इसी समय हिन्दूधर्म और संस्कृत साहित्य का अभ्युदय हुआ। पाँचवीं शताब्दी के अन्त में हूण नामक जाति के आक्रमण होने लगे। ईसा की ७वीं शताब्दी में हर्ष-साम्राज्य की स्थापना हुई। महाराज हर्ष ने सन् ६०६ से ६४७ तक शासन किया। उन्हीं के समय में बौद्ध यात्री हुएन्सांग भारतवर्ष में आया था। यही बौद्ध धर्म का ह्रास काल और पौराणिक धर्म का उत्थानकाल है।

प्राचीन काल में हिन्दू-समाज में स्त्रियों का स्थान उच्च था। धार्मिक तथा अन्य सामाजिक कृत्यों में उनका अधिकार पुरुषों ही के समान था। परन्तु जब पुरुष चतुर्थ आश्रम में प्रविष्ट होकर संन्यास ग्रहण करता था तब स्त्रियाँ पुरुषों का स्थान नहीं पा सकती थीं। सच तो यह है कि स्त्रियाँ उस समय विघ्नस्वरूप मानी जाती थीं। जब बौद्ध धर्म का पहले-पहल प्रचार हुआ तब उसमें स्त्रियों को दीक्षा लेने का अधिकार न था। बौद्ध धर्म का प्रारंभिक रूप निवृत्ति-मूलक था। जो इसमें दीक्षित होते थे उन्हें सांसारिक विषयों से अपना सम्बन्ध तोड़ देना पड़ता था। बौद्ध भिक्षु स्त्रियों पर दृष्टिपात तक न करते थे। परन्तु पीछे से अपने शिष्य (आनन्द) के आग्रह से बुद्धदेव ने स्त्रियों को दीक्षा देना स्वीकार कर लिया। गौतमी तथा अन्य भी कई स्त्रियाँ भिक्षुणी होकर बौद्धधर्म में सम्मिलित हुईं।

बौद्ध साहित्य में जगह-जगह स्त्रियों का बड़ा अच्छा चित्र अंकित हुआ है। छः वर्ष तक घोर तपस्या करने के बाद जब बुद्धदेव अशक्त हो गये थे तब सुजाता ने आकर उन्हें भोजन दिया था। विशाखा ने भगवान् बुद्ध और उनके शिष्यों की बड़ी सेवा की थी। बौद्ध साहित्य में उसका चरित्र बहुत उज्ज्वल वर्णित हुआ है।

इसमें सन्देह नहीं कि भिक्षुओं की अपेक्षा भिक्षुणियों की संख्या बहुत कम थी। तो भी समाज में उनका बड़ा प्रभाव था। उसकी विद्वता और धार्मिकता की अनेक कथायें प्रचलित हैं। थेरीगाथा के अधिकांश भागों की रचना स्थविराओं ने की है। उन थेरियों में से कुछ आचार्य पद पर प्रतिष्ठित थीं। उनके पास कितने ही भिक्षु बौद्ध धर्म के तत्व समझने के लिए आया करते थे। थेरी-गाथा में सोम नाम की एक स्त्री का उल्लेख है। वह राजा बिम्बसार के सभा पंडित की कन्या थी। वह अपने स्वाध्याय और योग के बल से अर्हत् के पद पर पहुँच गई थी। सुमेधा नाम की भी एक राजकन्या उल्लिखित हुई है। उसकी प्रतिभा विलक्षण थी। उसने सांसारिक सुखों का त्याग करके विश्व-सेवा स्वीकार की थी। शिक्षा और पतिव्रत किसी एक ही जाति की स्त्रियों में नहीं पायी जाती। सभी जातियों और सभी समाजों में विदुषी और सदाचारिणी स्त्रियाँ हुई हैं। उनके प्रयत्नों से बौद्ध-धर्म की बड़ी उन्नति हुई है और उसका खूब प्रचार हुआ।

बौद्ध युग में कितने ही विद्या केन्द्र थे उनमें तक्षशिला और नालंदा की विशेष ख्याति है। दूर-दूर के विद्यार्थी विद्याध्ययन के लिये आते थे। बंगाल के प्राचीन विद्या-केन्द्रों में विक्रम-शिला का नाम प्रसिद्ध है। ईसा के अष्टम शताब्दी में बंगाल के राजा धर्मपाल ने इसकी स्थापना की थी। इस मठ से कितने ही पंडित सद्धर्म का प्रचार करने के लिए तिब्बत जाते थे। यहाँ चीन और तिब्बत से कितने ही लोग शिक्षा प्राप्ति के लिए आते थे। तिब्बत से जो भिक्षु यहाँ ज्ञानार्जन के लिये आये थे उन्हीं में एक के सम्बन्ध में कुछ बातें लिखी जाती हैं। इस भिक्षु का नाम धर्मकीर्ति है। नाम से तो यह भिक्षु भारतवासी जान पड़ता है, परन्तु यथार्थ में यह भारतीय नहीं था। वह तिब्बत का था। इसका निवास स्थान 'खमस' प्रदेश में था। रायबहादुर शरच्चन्द्रदास ने अपने तिब्बत अभिधान में लिखा है कि यह प्रदेश

तिब्बत के पूर्व-भाग में अवस्थित है, अतएव यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि धर्मकीर्ति तिब्बतीय था।

बौद्ध पंडितों में एक दूसरे धर्मकीर्ति का भी नाम पाया जाता है। वह बौद्ध नैयायिक दिग्नाग का शिष्य था और स्वयं न्यायशास्त्र में निष्णात था। परन्तु विक्रम-शिला से इस धर्मकीर्ति का कोई भी सम्बन्ध नहीं था। नालन्दा से उसका सम्बन्ध अवश्य था, क्योंकि वह धर्मपाल का शिष्य था और धर्मपाल शीलभद्र के पहले नालन्दा का अध्यक्ष था। यदि हम तारानाथ के कथन को विश्वसनीय समझें तो हमें मानना पड़ेगा कि इस धर्म कीर्ति के जीवनकाल में विक्रमशिला का अस्तित्व ही न था। विक्रमशिला से तिब्बतीय पण्डित धर्मकीर्ति का घनिष्ट सम्बन्ध था। पी० कार्डियर नामक एक फ्रेंच विद्वान् ने तिब्बतीय त्रिपट की जो सूची प्रकाशित की है उसमें तिब्बतवासी धर्मकीर्ति का उल्लेख हुआ है। उससे यह मालूम होता है कि धर्मकीर्ति ने कुछ संस्कृत ग्रंथों का अनुवाद तिब्बती भाषा में किया था। उस ग्रन्थ का नाम है समय पंच और उसके कर्त्ता हैं आचार्य पद्मसंभव पाद। जान पड़ता है कि धर्मकीर्ति तिब्बत से संस्कृत पढ़ने के लिए ही यहाँ आए थे और जब ये यहाँ रहने लगे तब से तिब्बतीय भाषा में संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद भी करने लगे। अनुवाद कार्य में दूसरे बौद्ध भिक्षुओं से भी इन्हें सहायता मिलती थी। काल चक्रावतार नामक ग्रंथ के अनुवाद में इन्हें उसके रचयिता अभयंकरगुप्त से सहायता मिली। एक ग्रंथ के अनुवाद में इन्होंने सुवतश्री को सहायता दी। धर्मकीर्ति ने कुल १४ ग्रंथों का अनुवाद किया है।

[३]

भारतीय नरेशों के लिए निस्सन्तान होना बड़ा ही क्लेशदायक था। उनका विश्वास था कि विशुद्ध सन्तति से इहलोक और परलोक दोनों में सुख की प्राप्ति होती है। पितृऋण से किसी मनुष्य का उद्धार तभी

हो सकता है जब वह अपने पीछे कोई सन्तान छोड़ जाय जो पितरों को पिण्डदान और तर्पण करे। पुत्र-प्राप्ति के लिए यज्ञों तक का विधान था। यदि दैव की कृपा से राजमहिषी गर्भवती हुई तो उससे राजा और प्रजा दोनों को अपार आनन्द होता था। गर्भवती रानी की सेवा में बराबर नौ महीने तक कुशल और विश्वासपात्र राजवैद्य लगे रहते थे। उसकी सभी इच्छायें पूरी की जाती थीं। बालक के उत्पन्न होने पर कुलगुरू अथवा पुरोहित आकर उसका जातकर्म संस्कार कराता था। पुत्रजन्म के उपलक्ष्य में खूब उत्सव किया जाता था। आमोद-प्रमोद में नृत्य और गान मुख्य था। राजे-महाराजे अपने कैदियों को छोड़कर हर्ष प्रकट करते थे। दान भी खूब दिया जाता था। बच्चे के लिए एक धाय रक्खी जाती। जब बालक कुछ बड़ा हो जाता तब उसका चूड़ा-कर्म होता। इसके बाद विद्यारम्भ कराया जाता था। पहले लिपि और संख्या-ज्ञान की शिक्षा दी जाती थी। ११ वर्ष की अवस्था में क्षत्रियों का उपनयन-संस्कार होता था। तब-तक शिक्षा घर ही पर दी जाती थी। नदी के द्वारा जैसे जलचर जीवन समुद्र के भीतर घुस जाते हैं, उसी प्रकार वर्णमाला की शिक्षा पाकर राजकुमार का प्रवेश शब्दशास्त्र में हो जाता था। यज्ञोपवीत हो जाने के बाद राजकुमार को पढ़ाने के लिए बड़े बड़े विद्वान् नियुक्त होते थे। आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति की विशेष शिक्षा दी जाती थी।

कालिदास ने अपने रघुवंश में सभी राजाओं के दिग्विजय का उल्लेख किया है। इससे यह जान पड़ता है कि उस समय प्रत्येक हिन्दू राजा के चित्त में आसमुद्र क्षितीश बनने की अभिलाषा रहती थी। सारे देश को अपने आधिपत्य में लाकर उसे समृद्धि शाली और सुखी बनाना वह अपना कर्त्तव्य समझता था। जब राजा युद्ध के लिए प्रयाण करता तब पुरोहित आकर पवित्र मन्त्रोच्चारण-पूर्वक राजा के शरीर पर जल छिड़कता। फिर वाजिनोरांजन की विधि की जाती थी

और हवन किया जाता था। जब राजा जाने लगता तब उस पर पुरवासिनी धान की खीलें बरसाती। दिग्विजय कर लेने के बाद यज्ञ किया जाता था। इस प्रकार के यज्ञ हिन्दुओं के असीम राजनैतिक ज्ञान के परिचय हैं। इस सम्बन्ध में वाजपेय और राजसूय यज्ञ ध्यान देने योग्य हैं। राजसूय-यज्ञ करने से राज-पद मिलता था, पर वाजपेय करने से सम्राट पद मिलता था।

इसमें संदेह नहीं कि उस समय राजा यथाकाल प्रबोधी थे। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनुसार राजा को तीन बजे उठ जाना चाहिये जब राजा के सोकर उठने के समय होता तब सूत-पुत्र आकर उसकी स्तुति-गान करते। राजसभा में जाने के पहले राजा शृंगार करता था। ऐसा जान पड़ता है कि उस समय राजाओं को लम्बे केश रखने का बड़ा शौक था। उनका यह केश-कलाप मोतियों की माला से बाँध दिया जाता था। शरीर पर चन्दन का लेप करके उस पर गोरोचन से बेल-बूटे बनाये जाते थे। उनकी पोशाक में दो ही वस्त्र रहते थे, एक पहनने के लिए दूसरा ओढ़ने के लिए। राजा रत्नजटित मुकुट सिर पर धारण करते थे, कानों में कुण्डल पहनते थे। गले में पहनने के लिए मोतियों और रत्नों के हार थे। भुजाओं में केयूर या अंगद पहने जाते थे। हुएनसांग ने लिखा है कि राजाओं के सिंहासन ऊँचे और तंग होते थे। उनमें मोतियों की झालरें लगती थीं। सिंहासन के नीचे रत्नों से विभूषित एक पाद-पीठ रक्खा रहता था। राजा उसी पर पैर रखता था। सामन्त और उच्च पदाधिकारी उसी पर सिर रख कर प्रणाम करते थे। राजा शासक था और न्यायाधीश भी। धर्म शास्त्र में पारंगत पण्डितों के साथ बैठ प्रतिदिन वह स्वयं ही वादियों और प्रतिवादियों के अभियोगों को सुनता और उनका फैसला करता था। प्रतिदिन मंत्रियों के साथ गुप्त मन्त्रणायें करने के लिए एक सभा होती थी। उसमें पहले वाद-विवाद होता था और तब कोई विचार स्थिर किया जाता था। ये सब बातें बड़ी गुप्त रक्खी जाती

थीं। गुप्त भेद लेने के लिए जासूस रक्खे जाते थे। उनका काम शत्रुओं ही की खबर रखना नहीं था, किन्तु मित्रों का भी हाल-चाल देखते रहने की उन्हें आज्ञा थी। राजा को प्रतिदिन अपनी प्रजा को दर्शन देना पड़ता था। जान पड़ता है, इसके लिए एक झरोखा बना रहता था। जब अग्निवर्ण अन्तःपुर में ही रहने लगा तब मंत्रियों से बाध्य किये जाने पर उसे अपना पैर एक खिड़की में लटकाना पड़ा। प्रजा ने उसके पैरों ही के दर्शन से सन्तोष कर लिया।

राजा प्रायः अपनी राजधानी में ही रहा करते थे। नगर ऋद्धि-सम्पन्न होते। उसके चारों ओर एक परकोटा घिरा रहता था। वहाँ बड़ी-बड़ी ऊँची अट्टालिकाएँ बनी रहती थीं। राजमार्ग खूब चौड़े और साफ रहते थे। उन पर पानी का छिड़काव किया जाता था। बावलियों की संख्या अगणय थी। भारतीयों को बाग-बगीचे लगाने का बेहद शौक था। पुरुष घूमने जाते थे और उनमें वसन्तोत्सव के समय लोगों की खूब भीड़ होती थी। इन बागों के सिवा सभी श्रीमानों के घरों में पुष्पोद्यान होते थे। जब गरमी खूब पड़ने लगती थी, तब अमीर ऐसे मकानों में रहते थे जिनमें जल के फव्वारे चला करते थे। फर्श पर चन्दन का छिड़काव किया जाता था। फूलों की शय्या बनाई जाती थी। नगर में सैकड़ों बड़े-बड़े मन्दिर थे। उनमें देवताओं की मूर्त्तियाँ स्थापित थीं, जिनकी पूजा-अर्चना बड़ी धूमधाम से की जाती थी।

राजाओं को शिकार खेलने का भी खूब शौक था। राजा राजसी ठाट के साथ शिकार खेलने के लिए निकलता था। उसके साथ कितने ही शिकारी और कर्मचारी जाते थे। शिकार खेलने के लिए शिकारी कुत्ते पाले जाते थे। किसी-किसी राजा के साथ कुछ स्त्रियाँ भी जाती थीं। मेगास्थनीज ने भी लिखा है, कि शिकार के समय चन्द्रगुप्त को सैकड़ों स्त्रियाँ घेरे रहती थीं। अभिज्ञान-शाकुन्तल में ऐसी स्त्रियों का स्पष्ट उल्लेख किया गया है।

राजाओं का अन्तःपुर सौंदर्य और विलास का निवास स्थान था। अन्तःपुर में द्वार रक्षक का पद कंचुकी को दिया जाता था। जब राजा अन्तःपुर में हो तो उससे भेंट करने के लिए कंचुकी के द्वारा खबर भेजनी पड़ती थी। आवश्यक काम होने पर मन्त्री अन्तःपुर में जा सकता था। राजाओं में बहुपत्नी-विवाह की प्रथा होती थी। सभी राजाओं की एकाधिक रानियाँ होती थीं इनके सिवा दासियाँ भी वहाँ रहा करती थीं। अन्तःपुर में सदैव आमोद-प्रमोद होते रहते थे। नृत्य और संगीत की धूम मची रहती थी। इसकी शिक्षा देने के लिए बड़े-बड़े कलाकोविद नियुक्त होते थे। वाद्यों में मृदंग और वीणा का प्रचार था। स्त्रियाँ वीणा ही बजाया करती थीं। चोली का भी प्रचार था। पर्दे का रिवाज नहीं था, तो भी बाहर निकलने पर स्त्रियाँ मुँह पर घूँघट निकाले रहती थीं। उनके अलंकारों में कांची और नूपुर मुख्य थे। वे आँखों में कज्जल और पैरों में महावर लगाती थीं। केशों को फूलों की माला से बाँधा करती थी। फूलों के गहने पहनना उन्हें खूब पसन्द था।

कालिदास के समय में सामाजिक व्यवस्था वैसी ही थी, जैसी आजकल है। हिन्दू-समाज चार वर्णों में विभक्त था। ब्राह्मणों का बड़ा मान और आदर था। प्रत्येक वर्ण के मनुष्य अपने ही वर्ण में विवाह करते थे। सती की प्रथा का जोर था। मिट्टी के बर्तन भी काम में लाये जाते थे। स्पर्शास्पर्श का विचार था।

राज्यशासन का समस्त भार राजा ही पर था। वही अपने विस्तृत राज्य का निरीक्षण करता था। अपनी प्रजा के साथ राजा सदैव सद्-व्यवहार करता था। शासन कठोरता से नहीं किया जाता था। राज्य की आमदनी का मुख्य द्वार भूमिकर था। उपज का छठा हिस्सा भूमिकर के रूप में लिया जाता था। प्रजा सन्तुष्ट और सुखी थी। वाणिज्य और व्यवसाय की उन्नतावस्था थी। बड़े-बड़े व्यापारी जहाजों पर चढ़कर दूर-दूर देश जाते और वहाँ व्यापार करते। चोरों

और डाकुओं का कम भय था। चोरों को प्राणदण्ड दिया जाता था। सोने के सिक्कों का प्रचार था। राज्य-कर्मचारी घूस लिया करते थे। सेना-विभाग की अच्छी व्यवस्था थी। सेना के चार भाग थे—पैदल, सवार, रथ और हाथी। शिक्षा का अच्छा प्रचार था। राजा विद्वानों का आदर करते थे।

[४]

भारतवर्ष में एक हजार वर्ष तक बौद्ध-धर्म का प्राबल्य रहा। बौद्ध-धर्म का आविर्भाव दुःखवाद से हुआ है। संसार दुःखमय है, क्योंकि वह जन्म, जरा, मृत्यु और व्याधि से ग्रस्त है। संसार में मुक्ति पाने का उपाय बतलाने के लिए संन्यास का पथ श्रेयस्कर माना गया। जब बौद्धमत शून्यवाद में परिणत हुआ तब लोगों के चित्त में केवल संशयावस्था थी। बौद्ध संघों में अनाचार फैलने लगा। सर्वसाधारण भी सदाचार की अवहेलना करने लगे। धर्म के तत्व रहस्यमय हो गये। दार्शनिक विद्वान् शुष्क तर्कजाल में पड़ गये। भगवान शंकराचार्य से हिन्दू समाज का पुनरुद्धार किया। उनका मत मायावाद पर अवलम्बित है। धर्म और संन्यास मार्ग पर उन्होंने भी जोर दिया। उनके अद्वैतवाद का प्रभाव हिन्दू साहित्य पर पड़ा। उसी समय भिन्न-भिन्न स्मृतियों की भी रचना हुई। इस प्रकार नव-हिन्दू धर्म की सभी व्यवस्थायें संस्कृत भाषा में लिपिबद्ध हुईं। जनसाधारण से उनका जरा भी सम्पर्क न था। वहाँ तक उनका प्रवेश नहीं था। इसका परिणाम यह हुआ कि धार्मिक कृत्यों के आडम्बर में सदाचार का लोप हो गया। स्मार्त धर्म के प्रभाव से कृत्रिम आचार-व्यवहारों की बड़ी प्रबलता हो गयी। जातिभेद खूब बढ़ गया। ऊँच-नीच का बहुत ख्याल रखा जाता था। इसी समय से मुसलमानों ने भारतवर्ष पर आक्रमण किया। मुसलमानों के कारण यह भेदभाव और भी बढ़ गया। विद्वानों की मनस्तुष्टि के लिए स्मृति, न्याय और दर्शन-

शास्त्र की जटिल समस्यायें थीं। पर उनसे सर्वसाधारण का सन्तोष नहीं हो सकता था। उन्हें तो लौकिक साहित्य की आवश्यकता थी। मुसलमानों के आगमन के कोई दो सौ साल बाद प्रचलित भाषाओं में नवीन साहित्य का निर्माण होने लगा। यह साहित्य वैष्णव धर्म के आन्दोलन का परिणाम था। जब हिन्दी में धार्मिक भाव प्रकट होने लगे तब पंडितों ने उसका खूब विरोध था। संस्कृत भाषा विद्वानों की भाषा थी। हिन्दी-साहित्य को जनता ने तो अपनाया पर विद्वानों ने उसको सदैव तिरस्कार की दृष्टि से देखा। भाषा के प्रति सदैव उनका अवज्ञा का ही भाव था। परन्तु विद्वानों से अनादृत होने पर भी हिन्दी-साहित्य का प्रचार बढ़ने लगा। इसका एक मात्र कारण वैष्णव धर्म का प्रभाव था। रामानुज के समय से रामानन्द के समय तक वैष्णव सम्प्रदाय में उच्च वर्णों के ही लोग दीक्षा ग्रहण करते थे और उन्हें ही दीक्षा देने का अधिकार था। परन्तु रामानन्द ने सर्वसाधारण के लिए धर्म का पथ प्रशस्त कर दिया। धर्म केवल ब्राह्मण और क्षत्रियों की ही साधना का विषय नहीं रहा। रामानन्द की कृपा से जुलाहे, मोची, और डोम भी उसकी साधना में निरत होने लगे। रामानन्द के ऐसे शिष्यों में कबीर प्रधान थे। कबीर ने भी अपना सम्प्रदाय चलाया। उनका धर्म-मत बहुत उदार है। उसमें जरा भी संकीर्णता नहीं है। आचार-व्यवहार की कृत्रिमता और पूजा के आडम्बर को उन्होंने सर्वथा त्याज्य समझा। निर्गुण की उपासना प्रारम्भ हुई। निराकार वादी इन साधकों की उपासना शास्त्रों के अनुशासन से मुक्त थी, पर भाव और सौन्दर्य-प्रेम से पूर्ण थी।

भारतीय साहित्य में सर्वत्र त्याग की महिमा वर्णित है। यह त्याग अपने जीवन को रिक्त करने के लिए नहीं किया जाता किन्तु उसको पूर्ण करने के लिए। प्रेम की चरम सीमा त्याग में है। धर्म की भी अन्तिम अवधि त्याग है। इसी कारण दुःख का दमन नहीं किया गया है। किन्तु दुःख को अंगीकार कर उसे सुख का रूप

दिया गया है। जो संग्रह करना चाहता है वह मानों अपने अधिकार की सीमा को संकुचित करता है। विश्व से अपना सम्बन्ध छोड़कर वह एक क्षुद्र सीमा में निवास करता है। परन्तु त्याग से वह विश्व को अपना कर लेता है। तब उसका जीवन कम नहीं होता, किन्तु पूर्ण हो जाता है। जल-बिंदु तभी तक क्षुद्र है जब तक वह अपने को पृथक रखता है किन्तु ज्यों ही वह अपने को अनन्त समुद्र में त्याग देता है त्योंही वह स्वयं अनन्त हो जाता है। जब लोग विश्व-बोध की इस भावना को भूल रहे थे तब कबीर को इसी की चेतावनी देनी पड़ी—

सम्पुट मांहि समाइया सौ साहिब नहिं होय।
सकल भांड में रमि रहा मेरा साहिब सोय॥

यथार्थ बात यह है कि सत्य का स्वरूप चिरन्तन है। हिन्दी-साहित्य में साधकों ने अपने जीवन में उस सत्य का अनुभव कर उसे प्रकट किया है। उन्होंने मनुष्य जीवन में ही सत्य का पूर्ण रूप दिखलाने का प्रयास किया है। इन साधकों ने यह सन्देश उस समय दिया जब सत्य अनुभूति का विषय न होकर तर्क का विषय हो गया था। विद्वान् सत्य को ग्रन्थों में खोजते थे, मानव जीवन में नहीं। तर्क और विवाद से सत्य की उपलब्धि नहीं हो सकती। सत्य के धाम का मार्ग एक मात्र अनुभूति है।

कबीर का घर सिखर पर जहाँ रटपटी गैल।
पाँव न टिकै पिपीलिका; पण्डित लादै बैल॥

वैष्णव साधकों ने मिथ्या आडम्बर को धर्म नहीं समझा। उन्होंने जीवन में ही सत्य की उपलब्धि का उपदेश दिया।

हिन्दी के आदि काल में जितने सन्तों ने अपने उपदेशों को पद्य-बद्ध किया है उनमें कबीर सबसे प्रधान हैं। उनका जन्म उस काल में हुआ था जब ब्राह्मण-धर्म के विरुद्ध भारत में आन्दोलन हो रहा था। हिन्दू-समाज में धर्म की जो कृत्रिम मर्यादा बना दी गई थी उसके

कारण समाज बड़ा संकुचित हो गया। धर्म केवल स्मृति-शास्त्र का अनुशासन-मात्र था और सदाचार आडम्बर। कबीर नीच कुलोत्पन्न थे। अतएव उन्हें कोई भी ब्राह्मण धर्म का उपदेश नहीं स्वीकार करता था। कबीर तत्कालीन भाषा में धर्मोपदेश किया करते थे और उस समय धर्म के सभी अनुशासन संस्कृत भाषा में निबद्ध थे! कबीर ने ब्राह्मणों के इस धर्माधिकार पर और संस्कृत के एकाधिपत्य पर सदैव आक्षेप किया है।

संस्कृतिहिं पाण्डित्य कहैं बहुत करैं अभिमान।
भाषा जानि तरक करै ते नर मूढ़ अजान।
कलि का बाह्मन मसखरा तानि न दीजै दान।
कुटुम्ब सहित नरकै चला साथ लिया जजमान।
पण्डित और मसालची दोनों सूझै नाहिं।
औरन को करैं चांदना आप अंधेरे माँहिं।

जिस आन्दोलन के प्रवर्तक कबीर थे। उसकी पुष्टि जायसी के समान मुसलमान साधकों और फकीरों ने की। भारत में राजकीय सत्ता स्थापित करने के लिए हिन्दू और मुसलमान दोनों प्रयत्न करते रहे। परन्तु देश में दोनों का स्थान निर्दिष्ट हो चुका था। भारत में मुसलमानों का उतना ही सम्बन्ध हो गया जितना हिन्दुओं का। प्रतिद्वन्द्वी होने पर भी इन दोनों धर्मों का प्रवेश भारतीय सभ्यता में हो गया। हिन्दी और फारसी से उर्दू की सृष्टि हुई। उसी प्रकार हिन्दू और मुसलमान की कला ने मध्ययुग में एक नवीन भारतीय कला की सृष्टि की। देश में शान्ति भी स्थापित हुई कृषकों का कार्य निर्विघ्न हो गया। व्यवसाय और वाणिज्य की वृद्धि होने लगी। देश में नवीन भाव का यथेष्ठ प्रचार हो गया। अकबर राजत्व काल में इसका पूरा प्रभाव प्रकट हुआ। उसके शासनकाल में जिस साहित्य और कला की सृष्टि हुई उसमें हिंदू और मुसलमानि का

व्यवधान नहीं था। अकबर के महामंत्री अबुलफजल ने एक हिन्दू मंदिर के लिए जो लेख उत्कीर्ण कराया था उसका भावार्थ यह है—हे ईश्वर सभी देव-मंदिरों में मनुष्य तुम्हीं को खोजते हैं, सभी भाषाओं में मनुष्य तुम्हीं को पुकारते हैं। विश्व ब्रह्म-ब्रह्मवाद तुम्हीं हो और मुसलमान तुम्हीं हो। सभी धर्म एक ही बात कहते है कि तुम एक हो, तुम अद्वितीय हो। मुसलमान मस्जिदों में तुम्हारी प्रार्थना करते हैं और ईसाई गिरजाघरों में तुम्हारे लिए घंटा बजाते हैं। एक दिन मैं मस्जिद जाता हूँ और एक दिन गिरजा पर मन्दिर में मैं तुम्हीं को खोजता हूँ। तुम्हारे शिष्यों के लिए सत्य न तो प्राचीन है और न नवीन। अबुलफजल का यह उद्गार मध्ययुग का नव सन्देश था। मुगलों के शासन काल में हिन्दी साहित्य की श्री वृद्धि हुई उसका कारण यही है कि उस समय मुसलमान भारत को स्वदेश समझने लगे थे। न तो हिन्दुओं ने तत्कालीन राजभाषा की उपेक्षा की और न मुसलमानों ने हिन्दी साहित्य की। उस समय वैष्णव सम्प्रदाय के आचार्यों ने धार्मिक विरोध को भी हटाने की चेष्टा की। कितने ही मुसलमान साधक श्रीकृष्ण के उपासक हो गये।

राजनीति के क्षेत्र में हिन्दू और मुसलमान जाति का विरोध नहीं दूर हुआ। समाज के क्षेत्र में भी दोनों का संघर्ष बना रहा। तो भी साहित्य के क्षेत्र में दोनों ने सत्य को ग्रहण करने में संकोच नहीं किया। इसी चिरंतन सत्य के आधार पर इसी ऐक्यमूलक आध्यात्मिक आदर्श की भित्ति पर भारत ने अपनी जातीयता की स्थापना की है। इस जातीयता में सभी जातियाँ अपने अस्तित्व को स्थिर रख सकती हैं। इसमें सम्मिलित होने के लिए हिन्दुओं ने अपना हिंदुत्व नहीं छोड़ा है और न मुसलमानों ने अपने धार्मिक और सामाजिक संस्कारों का परित्याग किया। परन्तु इन दोनों का मिलन अनन्त सत्य के मन्दिर में हुआ जहाँ वाह्य आचार व्यवहार और कृत्रिम जाति-भेद के बंधन से मनुष्य जाति की एकता भिन्न नहीं होती।

[५]

श्रेष्ठ विद्वानों की राय है कि प्रत्येक देश का इतिहास कई युगों में बँटा रहता है। प्रत्येक युग में एक विशेष सभ्यता, कुछ विशेष विचारों और भावनाओं तथा उन्हीं के अनुकूल संस्थाओं का प्राधान्य रहता है। उनके द्वारा देश दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति करता दिखाई देता है। किन्तु कालान्तर में वही विचार, वही भावनायें, वही संस्थायें ऐसी विकृत हो जाती हैं कि उनका प्रारम्भिक बल जाता रहता है। तब प्रकृति के विकास-नियम के अनुसार एक नवीन सभ्यता का उद्भव होता है, लोग उन्नति के नये-नये मार्ग खोजते हैं। नये-नये प्रयोग करते हैं। देश में प्रमोद, आलस्य और मिथ्याचार के स्थान में एक जागृति की लहर-सी छा जाती है। इसी लहर को इतिहासज्ञ एक नवीन युग का प्रादुर्भाव कहते हैं। १९वीं शताब्दी में भारतवर्ष में एक इसी प्रकार के युग का जन्म हुआ था। बंगाल के प्रसिद्ध विद्वान् जदुनाथ सरकार का कथन है कि १८वीं शताब्दी के मध्यकाल में ही मुगल-सभ्यता उस पहलवान के सदृश्य हो गई थी जिसकी शक्ति के ह्रास हो जाने के कारण बात-बात में दम फूलने लगता है। यही क्षीणता समाज के अंग-अंग में प्रवेश कर गई। किन्तु तत्कालीन भारतवर्ष के जीवन में इसके लक्षण सबसे पहले सैनिक और राजनैतिक दौर्बल्य के रूप में प्रकट हुए थे। देश में स्वयं अपनी रक्षा करने की शक्ति न रह गई थी। बादशाह के सिर पर ताज तो था किन्तु उसको सम्हालने के लिए न उसके बाहुओं में बल था और न मस्तिष्क में योग्यता। दरबारियों की भी बड़ी दुर्दशा थी। सबको अपनी-अपनी पड़ी थी। स्वार्थ के मारे वे सामूहिक भलाई का अर्थ ही न समझ सकते थे। सौ बात की बात यह है कि साम्राज्य में सर्वत्र मिथ्याचार, अनाचार, छल और कपट का दौर-दौरा था। इस व्यापक और भयंकर गड़बड़ी के कारण लोग सत् साहित्य, शिल्प और कला, यहाँ तक कि धर्म के

आधार भूत सिद्धान्तों को भी भूल बैठे थे। ठीक इसी अवसर पर योरुप ने इसके साथ मुठभेड़ शुरू की। इसके वेग को रोकना भारतवर्ष के लिए असम्भव था। हार अवश्यम्भावी हो गयी। पचास वर्षों के ही भीतर सारे भारत पर इंग्लैण्ड का आतंक छा गया।

इसके पश्चात् जो समय आया उसको हम आधुनिक भारतवर्ष का अन्ध-युग कह सकते हैं। यह समय मोटे तौर से सन् १७६० से १८३० तक अर्थात् कार्नवालिस के शासन काल से बैनटिंग के शासन-काल तक रहा है। इसको अन्धयुग इसलिए कहा है कि इस समय प्राचीन सभ्यता और संस्कृति तो एक दम ठण्डी पड़ गई थी और नवीन का जन्म ही नहीं हुआ था। लोग हैरान थे। यह कोई नहीं कह सकता था कि भावी भारतवर्ष का जीवन किस साँचे में ढाला जाने वाला है। किन्तु शायद इसको आधुनिक भारतवर्ष का वपन-काल कहना अधिक उपयुक्त है, क्योंकि इसी समय में बीज पृथ्वी फोड़कर अंकुर निकालने का उद्योग कर रहा था।

इसके समाप्त होते ही भारतवर्ष का आधुनिक युग चलता है। भारतवासियों ने अपनी दिशा निश्चित कर ली थी। इंगलैण्ड में इन दिनों धड़ाधड़ सुधार हो रहे थे। भारतवासियों ने उन्हीं का अनुकरण किया। राष्ट्रीय-जीवन किसे कहते हैं देश के शासन में नागरिक के क्या अधिकार होने चाहिये, इन बातों की शिक्षा भारतवासियों को पश्चिम से ही मिली। उन्नतिशील भारतवासी इन्हीं विचारों के आधार पर देश के जीवन का संस्कार करने लगे। किन्तु इन भारतवासियों की कायापलट हो गयी। ये एक दूसरे ही रंग में रंगे हुए थे। इनका उपास्य देव पूर्व नहीं, पश्चिम था। इनमें से अधिकांश अंग्रेजी भाषा और साहित्य के पण्डित हो चुके थे। आधुनिक भारतवर्ष की आधार-शिला इन्हीं लोगों ने जमाई है। यही भारतवर्ष के प्रारम्भिक नेता हैं। राजाराममोहन राय नवयुग के सब से बड़े

गुरु और आचार्य थे। अन्ध-युग के अन्धकार से निकाल कर भारतवर्ष को पश्चिम के ज्ञान-सूर्य के दर्शन कराने का श्रेय इन्हीं को प्राप्त हुआ है।

इस आन्दोलन का सबसे पहला सुफल हुआ, विचार स्वातंत्र्य। भारतवासियों को विश्वास हो गया कि अब लकीर के फकीर बनने से काम नहीं चल सकता। बुद्धि और विवेक के आधार पर ही हम को अपने भावी जीवन का निर्माण करना होगा। इस आन्दोलन का जन्म और प्रचार सब से पहले बंगाल प्रान्त में हुआ। इसके दो कारण हैं। एक तो यह कि पहले इसी पर अँगरेजों ने अपना प्रभुत्व जमाया था और दूसरा यह कि मुगल-युग में भी मुस्लिम सभ्यता से इसका बहुत कम सम्पर्क हुआ था। इसीलिए इनको अपने प्राचीन विचार छोड़ने और पश्चिमी विचार अपनाने में अधिक कष्ट का अनुभव नहीं हुआ। यही कारण था कि १९ वीं शताब्दी के पहले भाग में बंगाली लोग अँगरेजी शिक्षा और पद्धति पर बेतरह मुग्ध हो गये थे। उनके अग्रगण्य नेताओं का भी यही विचार हो रहा कि यदि हम अपनी अवनत दशा से उन्नत होना चाहते हैं तो हमारे लिए अँगरेजी भाषा और साहित्य के अध्ययन के अतिरिक्त कोई दूसरा उपाय नहीं है।

आधुनिक साहित्य में जो नवचेतना शक्ति प्रकट हो रही है, उसका उद्गम-स्थान योरोप अवश्य है, पर अब वह किसी देश या जाति में बद्ध नहीं है। वह अब समस्त विश्व में फैल रही है। अठारहवीं शताब्दी तक सर्वत्र एक कृत्रिम सभ्यता का काल था। साहित्य की कला का एक विशेष रसिक वर्ग के परितोष के लिए ही विकसित हो रही थी। यह बात नहीं थी कि देश की यथार्थ स्थिति की ओर लोगों का ध्यान नहीं था। मध्ययुग के अन्त में समाज की जो व्यवस्था थी, उसके प्रति लोगों में असन्तोष का भाव व्यक्त होने लगा था। सुधार की एक भावना भी प्रबल हो रही थी। पर साहित्य में मौलिकता और नवीनता के स्थान में कला की एक कृत्रिमता आ गई थी। भारतवर्ष

में मुगलसाम्राज्य का वैभव नष्ट हो गया था और सर्वत्र एक अव्यवस्था का अन्धयुग आ गया था। लोग सत्-साहित्य, शिल्प और कला ही नहीं धर्म के मूल सिद्धांतों को भी भूल बैठे थे। अन्य स्थानों में भी मध्ययुग के आदर्शों के प्रति लोग संशयालु हो बैठे थे। एक नव-आदर्श के लिए सभी में एक व्यग्रता हो रही थी। मध्ययुग के अन्त में हिन्दी के कवियों ने कलिकाल के जिस प्रभाव का वर्णन किया है, वह किसी न किसी अंश में विश्व के सभी देशों में लक्षित हो रहा था।

एक ओर जहाँ सम्पत्ति के साथ विलासिता की वृद्धि हो रही थी, वहाँ दूसरी ओर दरिद्रता के साथ अनाचार भी बढ़ रहे थे। समाज की व्यवस्था के मूल में भी ऐसे दोष उत्पन्न हो गये थे, जो जीवन के सभी क्षेत्रों को विकृत कर रहे थे। जनता के हृदय में वेदना की जो ज्वाला प्रकट हो चुकी थी, वह अवरुद्ध होने पर भी प्रबल उच्छ्वासों और निःश्वासों के रूप में बहिर्गत होकर मानो समस्त विश्व को आच्छन्न कर रही थी। समय आने पर उसी ने क्रान्ति की एक प्रचण्ड आंधी का रूप धारण किया। उस क्रांति ने उद्योग, व्यवसाय, राजनीति और समाज, सभी की व्यवस्थाओं में आमूल परिवर्त्तन कर दिया। उसी के साथ साहित्य में परिवर्त्तन हो गया।

यह सच है कि एकमात्र वाह्य परिस्थिति से ही विवश होकर जाति में क्रांति की भावना उत्पन्न नहीं होती। आर्थिक दुरवस्था, पराधीनता उत्पीड़न और अत्याचार के कारण जाति में शक्ति की एक क्षीणता आ जाती है जो उसको अकर्मण्य बना देती है। उस अकर्मण्यता को दूर करने के लिए जाति के भीतर आत्मा की स्फूर्ति होनी ही चाहिए। मनुष्यों के अंतःकरण में अपनी मुक्ति और विकास के लिए एक प्रबल प्रेरणा होती है। तभी जाति की प्रसुप्त शक्ति सहसा प्रबुद्ध हो उठती है। फ्रांस में जो राजक्रान्ति सफल हुई, उसके मूल में अन्तःशक्ति की यही प्रेरणा काम कर रही थी। रूसो ने स्वाधीनता का जो भैरव

नाद किया, उसने जनता के भीतर उन्मुक्ति के लिए अदम्य कामना उत्पन्न कर दी। रूसो ने कहा कि मनुष्य जन्म से ही स्वतन्त्र होता है, किन्तु वह सर्वत्र पाशों से बद्ध है। अतएव सभी बंधनों को छिन्न-भिन्न कर मुक्ति के लिए सारी फ्रेंच जाति व्यग्र हो गई। क्रांति ने समाज की कृत्रिम मर्यादा को नष्ट कर दिया। उसी के कारण साहित्य में भी मध्ययुग की रीति-व्यवस्था पर आक्रमण हुआ। विक्टर ह्यूगो ने नाट्य-साहित्य की चिर प्रचलित रीति नीति को नष्ट कर साहित्य के लिए एक नवीन स्वच्छन्द पथ निर्मित किया। गेटे ने शेक्सपीयर के पथ का अनुसरण कर मानव-जीवन की सभी क्षमताओं और अक्षमताओं की समीक्षा कर यथार्थ गौरव को प्रदर्शित किया। वर्ड्सवर्थ ने सभ्यता के कृत्रिम जाल को छोड़कर प्रकृति के सरल सौंदर्य में जीवन की यथार्थ शक्ति का मूल स्रोत देखा।

अठारहवीं शताब्दी के अन्त में जो नया आन्दोलन पाश्चात्य साहित्य के क्षेत्र के परिवर्तित हुआ, उसके लिए कोई एक नाम देना बड़ा कठिन है। सभी साहित्यकारों की अपनी-अपनी एक पृथक प्रतिभा होती है। यही नहीं, उनकी अपनी अलग-अलग साधना भी होती है। उनकी प्रतिमा और साधना की जो विलक्षणता उनकी कृतियों में प्रकट होती है, उसी से साहित्य में उनका अपना एक विशेष स्थान हो जाता है। साहित्य में कभी एकरूपता नहीं रहती। उससे भाव-वैचित्रय, रूप-वैचित्र्य और स्वर-वैचित्र्य के कारण सदैव एक चिर नवीनता और चिर रमणीयता बनी रहती है। यह कहा जा सकता है कि साहित्य-कानन के सभी पुष्पों में न वर्ण की एक सी कमनीयता रहती है और न सौरभ की एक-सी सुमधुरता। फिर भी एक ही युग में जन्म लेने के कारण और जाति के भीतर एक सी चेतना शक्ति को प्रबुद्ध करने के कारण वे सभी एक ही आन्दोलन के नाम से विख्यात है। उसकी विशेषता भावों की समता नहीं है, रचना-शक्ति का वैचित्र्य है। समाज के भीतर व्यक्ति का अपना एक

स्वच्छन्द विकास होता है। उसी के कारण मानवजीवन में चिर-वैचित्र्य बना रहता है। ज्यों ही मनुष्य को अपनी अन्तःशक्ति का ज्ञान हो जाता है, ज्यों ही वह कृत्रिम व्यवधानों को हटाकर अपनी उस अंतः शक्ति के विकास का अवसर पा जाता है, त्यों ही उसकी शक्ति विविध रूपों में प्रकट होने लगती है। रोमैंटिक मूवमेंट में कल्पना की मधुरता और विलक्षणता के साथ रचना-शक्ति की विशेष क्षमता और विस्तार भी है। विश्व-साहित्य में इसी आन्दोलन के कारण एक युग के भीतर जितनी अधिक उत्कृष्ट रचनायें हुईं, उतनी अधिक रचनायें अन्य किसी युग में नहीं हुईं। व्यक्तित्व के विकास की इस साधना में विज्ञान की अपूर्व उन्नति और उद्योगों का विलक्षण विस्तार भी सम्मिलित था। उसी के साथ स्वतन्त्रता का आन्दोलन भी अन्य क्षेत्रों में विस्तृत होने लगा। शिक्षा और कला की समीक्षा में भी स्वतन्त्रता का एक नव आदर्श उपस्थित हुआ। विज्ञान, साहित्य कला और स्वाधीनता के विकास में एक ही शक्ति काम करती रही।

जब तक किसी भी देश या राष्ट्र में स्वाधीनता के लिए अदम्य कामना उत्पन्न नहीं होती, तब तक जीवन के किसी भी क्षेत्र में उन्नति करने के लिए उसकी क्षमता प्रकट नहीं होती। पराधीनता का भाव केवल राजनीति के ही क्षेत्र में राष्ट्र को निश्चेष्ट नहीं बनाता, वह धर्म समाज, उद्योग और व्यवसाय सभी में जड़ता ला देता है। प्राचीनता की ओर लोगों का जो विश्वास हो जाता है, उसका कारण यह है कि नवीनतम की ओर क्षमता के अभाव में उन्हें आशंका होने लगती है। कहा जाता है कि जब अरिस्टाटिल के सिद्धान्तों के अनुसार निर्दिष्ट नाट्य पद्धति में परिवर्तन किया गया, तब फ्रांस में बड़ा तीव्र मतभेद हुआ। राजनीति के क्षेत्र में निर्वाचन के समय भिन्न-भिन्न दलों के द्वारा कटु आलोचना और प्रत्यालोचना के रूप में जो भयंकर वाग्युद्ध होता है, उससे कम भयंकर वाग्युद्ध फ्रांस के इस नाट्य-पद्धति के परिवर्तन में नहीं हुआ। यह बात अब अत्यन्त उपेक्षणीय जान पड़ती है। पर

उस युग में समाज के भीतर स्वतंत्रता की भावना लाने के लिए उसका भी एक महत्व था। हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में भी, खड़ी बोली और ब्रजभाषा को लेकर कम वाग्युद्ध नहीं हुआ। साहित्य में कोई भी नया परिवर्तन करने के समय दो दल हो ही जाते हैं। एक प्राचीनता का समर्थक होता है और दूसरा नवीनता का। चिरकाल से प्राचीनता के साथ नवीनता का यह विरोध होता ही आया है। प्राचीनता के समर्थकों के पास अनुभूति की अभिज्ञता रहती है। जो कुछ हो चुका है, उसके सम्बन्ध में किसी प्रकार की आशंका की जा नहीं सकती। परन्तु जो नवीनता के समर्थक होते हैं, उनके पास केवल आत्म-विश्वास की दृढ़ता होती है। उसी से उनमें अदम्य उत्साह रहता है। उसी उत्साह के कारण वे किसी भी नव-पथ को स्वीकार करने के लिए व्यग्र रहते हैं।

आधुनिक युग में सर्वत्र हम आदर्शों का संघर्ष देख रहे हैं। उस संघर्ष के मूल में उन्नति की ही भावना काम कर रही है। भारतवर्ष में प्राचीन आदर्शों के प्रति विद्रोह के रूप में एक नया आन्दोलन हो रहा है। एक यदि प्रगतिवादी है, तो दूसरा प्रतिक्रियावादी। जिसे हम भारतीय संस्कृति या भारतीय धर्म कहते हैं, उसका सम्बन्ध हम अत्यन्त प्राचीन वैदिक युग से जोड़ते हैं। आज समाज की वह व्यवस्था नहीं है, जो वैदिक युग में थी। जीवन के सभी क्षेत्रों में इतना अधिक परिवर्तन हो गया है कि भारतीय समाज का वह रूप ही न रहा जो प्राचीन काल में था। फिर भी उन प्राचीन आदर्शों के प्रति भारतीयों की इतनी अधिक निष्ठा है कि किसी भी स्थिति में वे उनसे अपना सम्बन्ध विच्छेद नहीं होने देना चाहते। गोत्र के रूप में हम अभी तक प्राचीन ऋषियों से अपना सम्बन्ध स्थापित करते हैं और उसी सम्बन्ध के कारण एक ही गोत्र के लोगों में वैवाहिक-संबंध स्थापित करना अत्यन्त अनुचित मानते हैं। समाज के भीतर जो नीति काम कर रही है, उसका भी मूल प्राचीन युग में ही है। हम

लोगों के सामाजिक जीवन को हमारे जो संस्कार प्रबल रूप से संचालित कर रहे हैं, उन पर प्राचीनता की ही छाप है। उनकी शक्ति पर संदेह नहीं किया जा सकता। यहाँ कितनी ही विदेशी जातियों का आक्रमण हुआ। भारतीय जीवन पर उनका प्रभाव भी अवश्य पड़ा, पर उनके द्वारा भारतवर्ष की विशेषता लुप्त नहीं हुई। अपनी उसी शक्ति के कारण भारतवर्ष ने उन सभी को अपने एक ऐसे सांचे में ढाल दिया कि अब उनको पृथक करना संभव नहीं है। समय-समय पर जो भारतीय साधक और गुरु हुए, उन्होंने उन्हीं आदर्शों की साधना से जीवन में सभी विषमताओं के भीतर एक समता स्थापित कर दी। कितने ही संप्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ, पर साम्प्रदायिकता की किसी भी भावना ने जातीय-जीवन की एकता नष्ट नहीं की। रुचि-वैचित्र्य के कारण भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों ने ऋजु और कुटिल नाना पथों को स्वीकार अवश्य किया, पर उन सभी का यह विश्वास था कि उसी एक में सभी का मिलन होता है। सभी नदियाँ जैसे एक समुद्र में ही जाकर विलीन होती है, उसी प्रकार भारत की समस्त साम्प्रदायिक भावनायें उसी एक की प्राप्ति में विलीन हो जाती है।

भारतीय संस्कृति और कला

एक विज्ञ का कथन है कि कला उसे कहते हैं जिसके कारण किसी वस्तु में उपयोगिता और सुन्दरता आती है। इस दृष्टि से कला के दो भेद किये जा सकते हैं—एक उपयोगी कला और दूसरी ललित कला। उपयोगी कलाओं के द्वारा मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति होती है और ललित कलाओं के द्वारा उनके अलौकिक आनन्द की सिद्धि होती है। उनका यह भी कथन है कि सभ्यता के विकास के साथ मनुष्य की आवश्यकताएँ बढ़ती हैं और उनका सौंदर्य-ज्ञान भी बढ़ता है। मनुष्य को अपनी मानसिक तृप्ति के लिए सुन्दरता का आविर्भाव करना पड़ता है। कुछ कलायें नेत्रेन्द्रिय के सन्निकर्ष से मानसिक तृप्ति प्रदान करती है, और कुछ श्रवणेन्द्रिय के सन्निकर्ष से। काव्य में अर्थ की रमणीयता प्रधान गुण है और नाद की रमणीयता गौण। ललित कलाओं में सब से ऊँचा स्थान उसी का है।

इस सम्बन्ध में कितने ही विज्ञों का विश्वास है कि जब मनुष्य प्रकृति के सौंदर्य-विकास से मुग्ध हो जाता है तब वह अपने मनोभावों को व्यक्त करने की चेष्टा करता है। इसी सौंदर्य-लिप्सा से साहित्य की सृष्टि होती है और कला का विकास परन्तु इसके, विरुद्ध एक बात कही जा सकती है। जब मनुष्य सभ्यता और ऐश्वर्य की चरम सीमा पर पहुँच जाता है तब उसकी सौंदर्यानुभूति और सौन्दर्योपभोग की शक्ति का ह्रास नहीं होता, उल्टे उसकी वृद्धि ही होती है, तब ऐसी अवस्था में, साहित्य और कला की खूब उन्नति होनी चाहिये, परन्तु यह बात देखी नहीं जाती। जाति के ऐश्वर्य से साहित्य मलिन हो जाता है और कला श्रीहत। जर्मनी के एक जीव-तत्व-विशारद का कथन है कि जो जाति सभ्यता की निम्नतम श्रेणी में रहती है, वह

प्राकृतिक-सौंदर्य से मुग्ध होने पर विस्मय से अभिभूत होती है। उस विस्मय से उसके हृदय में आतंक का भाव उत्पन्न होता है और आतंक की प्रेरणा से उपासना और धर्म की सृष्टि होती है। यह देखा गया है कि मनुष्य-समाज जितना ही जटिल होगा, कला भी उतनी ही जटिल होगी। जब मनुष्य-समाज सरलता की ओर अग्रसर होगा तब कला में भी सरलता आने लगेगी। ज्यों-ज्यों सभ्यता की वृद्धि होती है, त्यों-त्यों मनुष्य-जीवन जटिल होता है, साथ ही कला भी जटिल होती जाती है। कला के साथ हमारे जीवन का घनिष्ठ सम्बन्ध है। मानव-जीवन से पृथक कर देने पर कला का महत्व नहीं रहता। एक विज्ञ का कथन है कि सौंदर्यानुभूति और सौंदर्य-सृष्टि की चेष्टा-मानव-जीवन की उत्पत्ति के साथ ही है। कला की उन्नति के लिए व्यक्तिगत स्वातंत्र्य चाहिए। सौंदर्य के उपभोग का सामर्थ्य तभी होता है जब चित्त-वृत्ति स्वच्छंद रहती है। कला की उन्नति के लिए स्वतंत्रता आवश्यक है। कला में मनुष्य अपनी कर्तव्य-शक्ति प्रकट करता है। जो जाति दासत्व की श्रृंखला से बद्ध होती है। उसकी चित्त-वृत्ति का स्वातंत्र्य भी नष्ट हो जाता है, उसकी मानसिक शक्ति भी कुंठित हो जाती है। विजय की भावना से उद्दीप्त होकर मनुष्य जब अपनी शक्ति का अनुभव कर लेता है तब वह प्रकृति के ऊपर अपना कर्तव्य प्रकट कर देना चाहता है। तभी वह चित्रों पर अपने अंतःकरण की छाया अंकित कर एक नवीन सृष्टि करता है। वह ध्वनियों की गति निश्चित कर संगीत के द्वारा अपनी उस अव्यक्त भावना को व्यक्त करता है। वह पत्थर और मिट्टी के मेल से एक विशाल भवन निर्मित कर अपनी महत्वाकांक्षा को पूर्ण देखना चाहता है। कला मनुष्य की अनन्तशक्ति का परिचय देनेवाली है।

हिन्दू-शास्त्रकारों ने कला के ६४ भेद बतलाये हैं। उनमें एक नृत्य-कला भी है। नृत्य-कला की उत्पत्ति का मुख्य कारण है मनुष्य की सुख-लिप्सा। अंग-संचालन से सभी जीवधारियों

को स्वाभाविक आनन्द होता है। कहा जाता है कि मेघों की ध्वनि सुनकर मयूर नाचने लगते हैं। परन्तु यह विशेषता सिर्फ मयूरों में ही नहीं है। सभी जीवधारियों को उछल-कूद करने और दौड़ने-भागने में सुख होता है। जीवधारियों के शरीर में जो प्राण-शक्ति है वह सदैव बाहर उद्गत होने की चेष्टा करती है। जब यह शक्ति क्षीण हो जाती है तब शरीर निस्तेज हो जाता है और फिर उछलने-कूदने में आनन्द नहीं आता। बालकों में क्रीड़ा करने की जो चाह रहती है उसका कारण यही है। उनके अंग-अंग फड़कते रहते हैं। चुपचाप तो उनसे बैठा ही नहीं जाता। इससे साफ प्रकट होता है कि मनुष्यों को अंग संचालन में एक विशेष प्रकार का सुख मिलता है और उसी सुख की वृद्धि के लिए नृत्य-कला की सृष्टि हुई है।

हिन्दू-जाति ने कला-कौशल में जो उन्नति की है वह धार्मिक भाव की प्रेरणा से। नृत्य-कला की उत्पत्ति भले ही स्वाभाविक सुख-लिप्सा के कारण हुई हो परन्तु उसकी उन्नति का कारण धार्मिक भाव हैं। आजकल असभ्य जातियों में भी नृत्य धार्मिक उत्सवों में ही होते हैं। हिन्दू-जाति में नृत्य के प्रचार के विषय में जो कथा प्रचलित है उससे उसकी धार्मिकता सिद्ध होती है। कहा जाता है कि ब्रह्मा जी ने एक बार स्वर्ग में एक नाटक का अभिनय कराया। उसमें महादेव जी भी उपस्थित थे। नाटक का अभिनय देखकर महादेव जी बड़े प्रसन्न हुए। परन्तु उसमें उन्होंने नृत्य का समावेश कराना चाहा। ब्रह्मा जी भी इससे सहमत हुए। तब महादेव जी की आज्ञा से तण्डु ने भरत मुनि को नृत्य के सब भेद बतलाये। ये नृत्य तण्डु से प्राप्त हुए थे, अतः इनका नाम ताण्डव पड़ा।

प्राचीन काल में भारतवर्ष अपने कला-कौशल के लिए विख्यात था। यहाँ सभी कलायें उन्नति की चर्मावस्था को पहुँच गई थीं। नृत्य-कला की भी अच्छी उन्नति हुई थी। बड़े-बड़े राजे-महाराजे इस कला के पृष्ठपोषक थे। इतना ही नहीं, उनके अन्तःपुर में भी

नृत्य-कला का अच्छा मान था। महाभारत में लिखा है कि अर्जुन राजकुमारी उत्तरा को नृत्य-कला की शिक्षा देते थे। कालिदास के मालविकाग्निमित्र नाटक में मालविका का नृत्य कला-कौशल बतलाया गया है।

प्रकृति के साहचर्य से ही मनुष्य ने संगीत की कला प्राप्त की है। प्रकृति स्वयं संगीतमयी है। उसमें स्वयं संगीत की मधुरता है। भिन्न-भिन्न ऋतुओं में स्वर-लालित्य के साथ भाव माधुर्य है। यही नहीं, दिवस के भिन्न-भिन्न समयों में प्रकृति का संगीत-वैचित्र्य है। यदि प्रकृति में वैचित्र्य और चिर नवीनता का भाव न रहता तो संगीत की उत्पत्ति ही न होती। इन सब को अपने मानसिक जगत में लाकर प्रकृति ने भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के अनुकूल अपने भिन्न-भिन्न आनन्दों की अनुभूतियों को संगीत के द्वारा व्यक्त किया है। संगीत के तीन स्पष्ट भेद किये जा सकते हैं—शब्द-संगीत, स्वर-संगीत और गति-संगीत। प्रकृति के अपूर्व सौंदर्य से वशीभूत हो मनुष्य ने अपने प्रसन्नता-सूचक भाव को मन से, वाणी से और अंग संचालन से प्रकट किया। उसका भावावेश वाणी में प्रकट हुआ और गति में भी। वाणी में भाषा के शब्दों में ही भाव साकार होते हैं। इसी से काव्यों में शब्द-संगीत की रचना होती है, गानों में स्वर-संगीत की सृष्टि होती है और नृत्य में गति-संगीत की अभिव्यक्ति होती है। तीनों के मूल प्रकृति में ही हैं। वृक्षों की मर्मर ध्वनि, पक्षियों के कलरव तथा अन्य-पशुओं के स्वर-वैचित्र्य में जो माधुर्य है, उसी के आधार पर मनुष्य ने अपनी भाषा में माधुर्य ला दिया है, वह काव्यों में प्रत्यक्ष होता है, कंठों में जो स्वर-लालित्य ला दिया, वह गान में उद्भूत होता है और जड़ पदार्थ में जो ध्वनि की मृदुता है, उसी को वह अपने हस्त कौशल से वाद्य-यंत्रों में प्रकट करता है। भावों की उत्पत्ति होने पर शारीरिक चेष्टाओं के द्वारा जो अनुभव प्रकट होते हैं, उन्हीं से गति-संगीत का निर्माण हुआ है।

यह तो स्पष्ट है कि प्रकृति के साथ मनुष्य का जो साहचर्य है, उसी से संगीत का उद्भव होता है। प्रकृति में जो परिवर्तनशीलता है वही मनुष्य के मानसिक जगत् में भी है। इधर प्रकृति में बसंत का आगमन हुआ, उधर मनुष्य में मृदु भावों का संचार हुआ। मलय समीर की चंचल गति मन को अस्थिर कर देती है। शरीर में आप से आप स्फूर्ति आ जाती है। आप से आप अंग फड़कने लगते हैं, आप से आप हम भौरों की तरह गुनगुनाने लगते हैं। कोयल का पञ्चम स्वर हमारी भी वाणी को खींच ले जाता है। इसी तरह वर्षा काल में मेघ की गम्भीर घटा के साथ जो श्यामलता वन में आ जाती है, उससे मनुष्य के मन में भी एक उत्सुकता जाग उठती है। दिशा की निस्तब्धता में मेघों की मन्द-ध्वनि के साथ मेढकों का शब्द भी उत्सुकता को बढ़ा देता है। मयूरों का षड्ज स्वर कितना सुमधुर हो जाता है शरत्-काल में कमलों का विकास होता है। उस समय पशु-पक्षियों के आनन्द में हम भी सम्मिलित हो जाते हैं। इस प्रकार भिन्न-भिन्न ऋतुओं में हमारे मन की भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ हो जाती हैं। इसीलिए भिन्न-भिन्न ऋतुओं के लिए भिन्न-भिन्न रागों का निर्माण कर उनमें तदनुकूल मानसिक उल्लास की अभिव्यक्ति की गई है। इसी तरह प्रातःकाल की मधुरिमा और स्फूर्ति, मध्याह्न काल की व्यग्रता और उत्ताप, सायंकाल का अवसाद और अधीरता तथा निशाकाल की शांति और प्रेमपूर्ण प्रतीक्षा को प्रकट करने के लिए भिन्न-भिन्न रागनियों की रचना हुई। हिन्दू-संगीत शास्त्रज्ञों का कथन है कि स्वयं महादेव जी के मुख से पाँच रागों की उत्पत्ति हुई है। एक राग पार्वती जी के मुख से उद्गम हुआ है। प्रकृति और पुरुष के साहचर्य से ही संगीत की उत्पत्ति होती है। संसार के वृहत् क्षेत्र में व्यस्त पुरुष ने अपने उत्साह, उमंग, दीप्ति, उल्लास, और अधैर्य को भैरव, हिण्डोल, दीपक, श्री और मेघरागों में प्रकट किया है और गृह के भीतर प्रेम की प्रतीक्षा में विह्वल नारी ने वियोग की वेदना

और भक्ति की शान्ति से पूर्ण एक ही राग मालकोस की सृष्टि की है। यही इस सिद्धांत का यथार्थ रहस्य है। छः ऋतुओं के अनुकूल ऐसे छः राग हैं, उसी तरह दिन के भिन्न-भिन्न भावों के अनुकूल भिन्न-भिन्न रागिनियों का विकास हुआ है।

आदिकाल से लेकर आज तक हिन्दू-शास्त्र का विकास होता गया है। यह कहा जाता है कि स्वयं भगवान शिवजी ने नारद, तुम्बर और रम्भा को शिक्षा देकर संगीत-शास्त्र का विशेष प्रचार किया और रागों के काल और रस निश्चित किए। इसमें सन्देह नहीं कि भारतवर्ष में संगीत-शास्त्र की बड़ी महिमा थी। पुराणों और महाभारत में यह बात प्रसिद्ध है कि श्रीकृष्ण और अर्जुन संगीत में कितने चतुर थे। यही नहीं, वृहन्नला का रूप धारण कर अर्जुन ने राज-कन्याओं को भी नृत्य और गान की शिक्षा दी। 'मालविकाग्निमित्र' नामक नाटक में इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि बौद्धकाल में राज-कन्यायें संगीत, नृत्य तथा नाट्य-काल में दक्षता प्राप्त करने का प्रयत्न करती थीं। बौद्ध कालीन अजन्ता की गुफाओं में नृत्य में निरत जो चित्र अंकित किये गये हैं, उन्हें देखने से ऐसा प्रतीत है कि उनके अंग-अंग से शक्ति निकल रही है। उनकी भिन्न-भिन्न मनोरम गतियों से भिन्न-भिन्न छन्दों का बोध होता है। ऐसा जान पड़ता है, मानो गति-संगीत ही मूर्तिमान हो गया।

प्राचीन शिल्प-शास्त्रों की ओर भी विद्वानों का ध्यान आकृष्ट हो रहा है। अनुसन्धान करने से जो शिल्प-शास्त्र विषयक ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं उनसे तथ्य संग्रह कर प्राचीन भारतीय काल का रहस्य जानने की चेष्टा की जा रही है। अभी तक जिन ग्रन्थों की आलोचना की गई है। उनमें स्थापत्य और तक्षण कला की ही बातें हैं।

यह तो सभी जानते हैं कि जब तिब्बत में बौद्ध-धर्म का प्रचार हुआ तब तिब्बती-भाषा में कितने ही संस्कृत-ग्रन्थों का अनुवाद हुआ। उन पुस्तकों के संग्रह काजूर और तंजूर-ग्रन्थ-माला के नाम से प्रसिद्ध हैं।

चित्र-लक्षण नामक एक ग्रंथ की गणना तंजूर ग्रन्थ माला में की जाती है। मूल संस्कृत-ग्रन्थ में जान पड़ता है, चित्र लक्षण में, तीन अध्याय हैं। अधिक अध्याय रहे होंगे। तृतीय अध्याय में लिखा गया है कि दूसरे अध्याय में नयन- भंगी का पूरा विवरण दिया जायगा। कुछ भी हो हमें जो मिला है उसी से संतोष करना पड़ेगा। पहले अध्याय में चित्र-विद्या और चित्र-लक्षण ग्रन्थ की पार्थिव उत्पत्ति आलोचित हुई है। दूसरे अध्याय में चित्र विद्या की देवी उत्पत्ति वर्णित है। तीसरे अध्याय में चित्रों का लक्षण प्रतिपादित हुआ है।

पहले अध्याय में एक कथा वर्णित है, जिसमें यह बतलाया गया है कि पृथ्वी पर चित्र -विद्या की उत्पत्ति कैसे हुई। प्राचीन काल में भयजित नामक एक बड़ा यशस्वी राजा हुआ था। वह बड़ा धार्मिक था। उसके राज्य में प्रजा-गण सुख सम्पन्न थे। अपनी तपश्चर्या के बल से वह राजा देवता से भी अधिक शक्तिशाली हो गया। एक बार एक ब्राह्मण ने आकर राजा से कहा, हे राजन्, आप के राज्य में अकाल मृत्यु कैसे हुई? जान पड़ता है, आप ने अधर्म को आश्रय दिया है, तभी मेरे बालक की मृत्यु हुई। यदि आप ब्राह्मण पर अनुराग रखते हों तो आप यमालय से मेरे पुत्र को लौटा लाइये। राजा ने तुरन्त ही अपने तप के प्रभाव से यम को बुलाया और उसको ब्राह्मण का पुत्र लौटा देने के लिए कहा। यम ने अस्वीकार किया। तब दोनों में युद्ध होने लगा। जब यम पराजित होने लगा तब ब्रह्मा ने आकर उनका युद्ध बन्द कराया। राजा को सन्तुष्ट करने के लिए ब्रह्मा ने कहा ......जीवन और मृत्यु कर्म-फल के अनुसार ही है। यम इस नियम का उल्लंघन नहीं कर सकता। तुम ब्राह्मण पुत्र की एक प्रतिकृति बनाओ। मैं उसे जीवित कर दूँगा। राजा ने चित्र बनाया और ब्रह्मा ने उसे सजीव कर दिया। इसके बाद ब्रह्मा ने कहा...... तुमने नग्न प्रेतों को जीत लिया, इसलिए आज से तुम्हारा नाम नग्न-जित हुआ। हमारे प्रभाव से तुमने ब्राह्मण-पुत्र का चित्र अंकित किया

है। इस जीवलोक में यह पहिला चित्र है। इस विद्या के द्वारा संसार का बड़ा कल्याण होगा और उसी से तुम भी संसार में पूजनीय होगे। बस यहीं कथा समाप्त हो गई। नग्नजित नामक राजा का उल्लेख अन्य प्राचीन ग्रन्थों में किया गया है। शतपथ ब्राह्मण में एक गान्धार-राज्य नग्नजित का नाम आया है। जैनसूत्र में भी गान्धार राज नग्नजित का उल्लेख है। महाभारत में भी कई स्थानों में यह नाम आया है। परन्तु चित्र-लक्षणकार नग्नजित से इनका कोई सम्बन्ध है या नहीं, यह अनिश्चित् है।

मंगलाचरण में यह कहा गया है कि चित्र-लक्षण में विश्वकर्मा, प्रह्लाद और नग्नजित इन तीनों के निर्दिष्ट लक्षणों का संग्रह है। लाउफर का अनुमान है कि इन तीनों ने अपने अपने नाम से तीन भिन्न-भिन्न शिल्प-पद्धतियाँ प्रचलित की हैं। परन्तु यह अनुमान चित्र लक्षण में पुष्ट नहीं होता। ब्राह्मण-पुत्र का चित्र अंकित करने के बाद नग्नजित ने ब्रह्मा से पूछा कि इस चित्र-विद्या की उत्पत्ति कब हुई और भिन्न-भिन्न चित्रों के लक्षण और अंग-प्रत्यंग का माप क्या है। ब्रह्मा ने कहा—सबसे पहले वेद और यज्ञ की उत्पत्ति हुई। चैत्य-निर्माण में चित्रांकण आवश्यक है। इसीलिए मैंने चित्र-विद्या का प्रचार किया। सबसे पहले मैंने ही मनुष्य का चित्र अंकित किया है। इसके बाद ब्रह्मा ने चित्र-विद्या की बड़ी प्रशंसा की और अन्त में कहा कि तुम देव-शिल्पी विश्वकर्मा के पास जाओ। वह तुम्हें चित्रों के लक्षण, नियम और परिभाषा बतला देगा। तब नग्नजित ने विश्वकर्मा के पास जाकर उनसे शिक्षा ग्रहण की। इससे तो यही प्रकट होता है कि नग्नजित विश्वकर्मा का शिष्य-मात्र है।

यह कहना बड़ा कठिन है कि नग्नजित के चित्र-लक्षण का रचना काल किस शताब्दी में है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि छठीं शताब्दी के पहले उसकी प्रसिद्धि हो चुकी थी। वराहमिहिर की बृहत् संहिता में दो स्थानों में उसका उल्लेख किया गया है।

चित्र-लक्षण के प्रथम अध्याय में जो कथा वर्णित है उसका सारांश ऊपर दे दिया गया है। दूसरे अध्याय में देवलोक-चित्र विद्या की उत्पत्ति कथा है। इस कथा को विश्वकर्मा ने नग्नजीत से कहा था। विश्व की सृष्टि करने के बाद सृष्टि की कल्याण-कामना से ब्रह्मा ध्यान मग्न हुए। उनके ध्यान से महादेव, विष्णु, इन्द्र आदि देवतागण भी दिव्य प्रभाव से युक्त हुए और उन्होंने अपने अपने प्रभाव से श्रीसंपन्न मूर्ति प्रकट की, उनकी मूर्तियों ने भिन्न-भिन्न रूप धारण किया और वे वस्त्रालंकारों से शोभित हुईं। भिन्न-भिन्न हाथों से भिन्न-भिन्न अस्त्रों से उनके भिन्न-भिन्न गुण चित्र में प्रकट हुए। देवतागण अपने-अपने चित्र देख कर बड़े प्रसन्न हुए। ब्रह्मा ने कहा— अब इन्हीं मूर्त्तियों को पूजोपहार देकर संसार कृतार्थ होगा। देवताओं ने कहा—तथास्तु।

तृतीय अध्याय में समस्त अंग-प्रत्यंग का मान दिया गया है। एक स्थान में चक्रवर्ती पुरुष के रूप का वर्णन यों किया गया गया है। मेघ-युक्त आकाश में चन्द्र बड़ा सुन्दर है। यदि उसके प्रभा-मण्डल-परिवृत्त रूप से किसी की तुलना की जा सकती है तो चक्रवर्ती नृपति के साथ। इसलिए उसके शरीर के चारों ओर प्रभा-मण्डल चित्रित है। उसके भ्रू-युगल सुन्दर होते हैं, ग्रीवा और कपाल कमनीय, केश कोमल और केशाग्र कुंचित होते हैं। नासिका उन्नत और ऋजु होती है। और ओष्ठाधर रक्तिम। दन्त मोती के समान उज्ज्वल हैं और नेत्र आकाश के समान नीलमा लिए हुए। कन्ध शंक के समान होना चाहिये और उरु-युगल हस्ति-शुंड के समान उसका वर्ण चम्पा के फूल के समान होना चाहिए। हस्तपाद सुपुष्ठ होना चाहिये।

ग्रंथ में जो उपदेश और नियम है उनमें एक बात पर खूब जोर दिया गया है। वह यह कि आदर्श पुरुष का शरीर मांसल होना ही चाहिये। परन्तु चित्र में कहीं मांस-पेशी, शिरा या ग्रन्थि नहीं दिखानी चाहिए। चक्रवर्ती राजा और देवता की मूर्ति में दाढ़ी-मूँछ

नहीं रहेगी। उनको नवयुवक के रूप में दिखलाना पड़ेगा। उनका शरीर सिंहोदर के समान दीर्घ-विस्तृत रहेगा—ये लक्षण भारतीय और तिब्बतीय चित्रों में पाये जाते हैं।

चित्र-लक्षण-कार ने नेत्रों के सम्बन्ध में जितना लिखा है उतना और किसी अंग के विषय में नहीं। चित्र-लक्षण में आकार भेद से पांच प्रकार के चक्षु माने गये हैं। योगी के चक्षु, धनुराकृति होते हैं और सर्वसाधारण के उत्पलाकृति। राजा, रमणी और प्रेमिका के चक्षु मत्स्योदराकृति होना चाहिये। मोह और क्रोध में चक्षु कीड़ के सदृश्य होते हैं, भय और क्रन्दन में पद्मपत्राकृति। चक्षु के समान भ्रू के भी प्रकार भेद बतलाए गये हैं। प्रशान्त व्यक्ति के भ्रू को अर्धचन्द्राकृति और नर्तन-शील अंकित करना चाहिये। क्रोधाविष्ट और क्रन्दनशील के भ्रू धनुराकृति होते हैं। इसी तरह के और भी कितने लक्षण बतलाये गये हैं।

चित्र के विषय में एक बात ध्यान देने योग्य है। नग्नजित चित्र-लक्षण-शास्त्र के प्रवर्तक कहे गये हैं। महाभारत में गांधारराज नग्नजित का उल्लेख है। यदि ये दोनों एक ही हों तो गांधार-राज्य में प्राचीन चित्र-कला का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। ग्रीनबेल साहब का कथन है कि गांधार मूर्तियों में चित्रकला का इतना अधिक लक्षण मिलता है कि यह कल्पना की जा सकती है कि गांधार में पहले कोई चित्रकला प्रचलित थी। तिब्बत के धार्मिक चित्रों पर उसी का प्रभाव पड़ा है। खोटान और मध्य एशिया में जो चित्र पाये गये हैं उनमें भी गांधार-शिल्प का प्रभाव दिखाई पड़ता है।

चीन देश में प्रसिद्ध है दो खोटनों चित्रकारों ने कोरिया और चीन में भारतीय चित्रकला के आदर्श प्रचिलत किये थे। कुछ भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि चित्र-लक्षण से भारतीय चित्रकला की महत्ता तथा विशेषता प्रकट होती है।

अजन्ता के गुफा मन्दिरों में भारतीयों की अपूर्व कला प्रदर्शित हुई है। एक विज्ञ ने लिखा है—अजन्ता की पहली गुफा में गौतम बुद्ध के चित्र से शांति और गंभीरता की एक अजीब झलक निकलती है। यात्रियों और दर्शकों के मन में इस दृश्य को देखकर अनिर्वचनीय भाव उत्पन्न होता है।

दूसरी गुफा में भी एक चित्र को देखकर गहरी वेदना का अनुभव होने लगता है। एक सुन्दर स्त्री अपने घुटनों को टेके सिर झुकाये बैठी है। उसके बाद वह क्रोधी पति के चरणों पर लोटती है और वह तलवार लेकर उसे मारने के लिए तैयार है। स्त्री पति की आज्ञा पूरी करने के लिए गिरती हुई तलवार की प्रतीक्षा करती है। यह दृश्य सचमुच करुणाजनक है।

सोलहवीं गुफा गौतम बुद्ध का एक विशालकाय चित्र है। यहाँ पर निर्माण पथ की ओर जाते हुए मरणासन्न राजकुमारों का बहुत ही उत्तम चित्र है। ग्रिफिथ्स साहब के कथनानुसार इस चित्र से बढ़कर कला के इतिहास में और कोई दूसरी वस्तु ऐसी नहीं है, जो इतनी उचित रीति से भावों और गंभीर वेदना का प्रदर्शन करते हुए सच्ची घटना की कहानी का ऐसा रूप सामने रख सके। फ्लोरेन्स के रहने वाले इससे सुन्दर तस्वीर खींच सकते थे और वेनिस के रहने वाले इससे अच्छी रंगाई कर सकते थे। किन्तु उनमें से कोई भी इससे सुन्दर भाव प्रदर्शन नहीं कर सकता। मरणासन्न औरत के लटके हुए सिर, अधखुली आँखें, ढीले पड़े हुए अंग चारपाई पर ऐसे जान पड़ते मैं, जैसे आजकल कोई स्त्री देहात में बीमार पड़ कर खाटपर पड़ी हो। एक दूसरी औरत उसको अवलम्ब दिये खड़ी है और तीसरी उसकी ओर उदास नजरों से देखती हुई उसका हाथ पकड़े है, मानो वह उसकी नब्ज देख रही हो। उसके चेहरे पर जो भाव है वह यह कहता है कि कितनी जल्दी उसकी प्यारी सखी के जीवन का अन्त हो जायगा। एक चौथी स्त्री पंखा कर रही है। बायीं बगल में दो

आदमी गहरी चिंता में खड़े हुए दिखाये गये हैं। नीचे और सम्बन्धी उस राजकुमारी के जीवन की आशा खोये बैठे हैं। एक रमणी अपना मुँह अपनी बाहों में छिपा कर रो रही है।

बौद्ध युग में मूर्ति-निर्माण कला की विशेष उन्नति हुई। बुद्ध देव के साथ-साथ हिंदू देवों और देवियों की प्रतिमाओं में भी कला की एक अपूर्व कुशलता विकसित हुई। गान्धार का शिल्प-कौशल अशोक-कालीन कला के प्रभाव से रहित है। गुप्त-युग के जो बुद्ध मस्तक पाये गये हैं, उनमें जो कला कुशलता है, वह गान्धार-युग की मूर्त्तियों में नहीं है। सच पूछिये तो परवर्ती युग की शिल्प-कला में जो कला-चातुर्य देखने में आता है उसका गान्धार-युग के शिल्पियों में बहुत कुछ अभाव है। आश्चर्य की बात तो यह है कि सभी प्राचीन बौद्ध मूर्त्तियाँ गान्धार-शिल्प पद्धति की ही बनी मिलती हैं। ईसाई सन् की तीसरी शताब्दी के पूर्व की बुद्धदेव की कोई मूर्त्ति नहीं पाई जाती, इसके पहले केवल प्रतीकों में बुद्ध का थोड़ा बहुत अस्तित्व पाया जाता है। भारतीय शक राजाओं के समय के गान्धार-काल एवं पश्चिमी एशिया के शिल्पियों की पाषाण मूर्तियों में अधिकतर यूनानी मूर्त्ति निर्माण कला का ही निदर्शन देखने में आता है। उसे हम प्रांतीय रोमन-शिल्प-कला का नमूना भी कह सकते हैं। उस समय की कितनी ही मूर्त्तियाँ पाश्चात्य पद्धति के अनुसार निर्मित हुई हैं, यह उनके देखने से स्पष्ट मालूम हो जाता है। इन पाषाण-मूर्त्तियों की रचना के मूल में यूनानी प्रभाव विद्यमान है, यह बात फ्रांसीसी विद्वान् फूसे ने निर्दिष्ट की है। पर इनमें जो भारतीय भाव विद्यमान् है, वह अस्वीकार नहीं किया जा सकता। बुद्ध-मस्तक में जो ध्यान-तन्मयता और आध्यात्मिक एकनिष्ठता का परिचय पाया जाता है वह तो सम्पूर्णतः भारतीय भावना है।

बौद्ध मूर्त्तियों की भी विशेषतायें उल्लेख-योग्य हैं। एक उनकी पगड़ी की ही बात लीजिये। बौद्ध-मूर्त्तियों में यह वस्तु अपना विशेष

स्थान रखती है। सम्भवतः यह उस समय में दैहिक लक्षणों में गिनी जाती थी। मूर्त्तियों में इसका कब से प्रचार हुआ, इसको जानकर कौतूहल उत्पन्न होता है। प्राचीन काल में यदि किसी बालक का मस्तक जन्म के समय पगड़ी के आकार का होता था तो ज्योतिषि लोग यह स्थिर करते थे कि वह बालक भविष्य में महापुरुष होगा। इस सम्बन्ध में फूशे का यह मत है कि गान्धार-शिल्पियों ने बुद्ध का मस्तक एक-दम संन्यासियों जैसा मुण्डित नहीं बनाया, किन्तु भारतीय रीति के अनुसार स्त्री-जाति के सदृश्य सकेश बनाया था। कुछ काल के उपरांत बौद्ध शिल्पियों को यह रीति उचित नहीं जँची। केश रक्खे जाँय या नहीं, इन दोनों बातों के सम्बन्ध में विवाद खड़ा हो गया। अन्त में छोटे-छोटे दक्षिण ओर को मुड़े हुए कुंचित केश रक्खा जाना निश्चित हुआ। यह आकृति महापुरुष का एक लक्षण ठहरा दी गई। इस प्रकार के केशों का प्रचलन बहुतेरी बौद्ध-मूर्त्तियों में पाया जाता है। इसके बाद धीरे धीरे जूड़े का प्रचार हुआ, जिसने पुनः परिवर्त्तित होकर पगड़ी का रूप धारण कर लिया। फूशे के मत से गांधार-शिल्प-कला में पगड़ी इस रूप से प्रवर्त्तित नहीं हुई थी। यह बात सत्य भी है; क्योंकि अनेक गांधार मूर्त्तियों के मस्तक पर केवल एक शिखा या जूड़ा ही पाई जाती है। परन्तु फूशे का मत सभी जगह ठीक नहीं उतरता, क्योंकि ऐसी कितनी ही मूर्त्तियाँ मिली हैं जिनके मस्तक पर पगड़ी की अपेक्षा कुञ्चित केश अधिक लम्बे रूप में झूमते हुए पाये जाते हैं। पगड़ी के प्रचलन को फूशे परयुग की बात समझते हैं। यह बात ठीक नहीं है। उसका प्रचार गान्धार-युग के बहुत पहले से था। सम्भवतः पगड़ी की प्रथा बुद्धमूर्त्ति का एक प्राचीन लक्षण है। एक बुद्ध मस्तक से यह बात स्पष्ट सिद्ध होती है कि पगड़ी का प्रचलन गान्धार में पहले से ही विद्यमान था। इस मस्तक की दोनों भौंहों के मध्य में ऊर्णा-रेखा या संयुक्त रोम-रेखा देख पड़ती है। इस रेखा ने धीरे धीरे मूर्त्ति में

बिन्दी के सदृश्य एक उच्च वृत्ताकार धारण किया है, मानो सौन्दर्य वर्द्धन का एक परम साधन हो गया हो। किसी किसी मूर्त्ति में इस रेखा की जगह बहुमूल्य रत्न जड़ दिये गये हैं। पुरी की जगन्नाथ जी की मूर्त्ति के मस्तक में ऐसा रत्न जड़ा हुआ है। भारत के अनेक प्रदेशों में स्त्रियाँ अपने मस्तक में गोल बिन्दी अथवा टिकुली देती हैं और शिव आदि हिन्दू-देवताओं के मस्तक में जो तीसरा नेत्र दिखाई पड़ता है वह पूर्वोक्त रेखा के स्थान में ही है। इस प्रकार मूर्त्ति के मस्तक में इस रेखा के अंकित करने के प्रचलन का पता लगता है।

उपर्युक्त बुद्ध-मस्तक में एक और भी विशेषता है। इसके कानों के नीचे का हिस्सा कुछ लम्बा झूल रहा है। इसमें शिल्पी का कोई विशेष उद्देश्य नहीं है। आजकल भी भारत की अनेक जगहों में स्त्री और पुरुष कानों में इतने भारी सोने के कुण्डल पहनते हैं कि उनके कानों के नीचे का भाग झूल सा पड़ता है। सिद्धार्थ संन्यासी होने के पूर्व इस प्रकार के कुण्डल निश्चय ही पहनते रहे होंगे। इसी से उनके कानों के नीचे के भाग लम्बायमान बनाये गये हैं।

एक विष्णुमूर्त्ति है। गुप्तकालीन शिल्पियों में कला नैपुण्य था। इस युग के भारतीय शिल्पी यूनानी शिल्पियों के समकक्ष थे। गुप्तयुग साधारणतः तीसरी शताब्दी से लेकर छठी शताब्दी के मध्य तक माना जा सकता है।

एक विष्णु मूर्त्ति के तीन मस्तक हैं—बीच का मस्तक मनुष्य का, दाहिनी तरफ का सिंह का और बायीं तरफ का वाराह मस्तक है। बीच वाले मस्तक पर एक बड़ा सा मुकुट है, कानों में सुन्दर कुण्डल लटके रहे हैं, गले में हार और हाथों में कड़े पड़े हुए हैं। बायें कन्धे पर एक पतला हार सा है, जो सम्भवतः यज्ञोपवीत है। पहले यज्ञोपवीत अंकित करने की चलन नहीं थी। उसका प्रचार पीछे से हुआ है। इसी से पीछे की बनी मूर्त्तियों में यज्ञोपवीत मिलती है। प्राचीनकाल में जो विशिष्ट लोग समाज की मंगल-कामना के व्रती रहते थे, वे कन्धे

पर उत्तरीय अर्थात् दुपट्टे का व्यवहार करते थे। इसका उन्हें विशेष प्रयोजन पड़ता था—अधिकतर देव-पूजा, पितृ-कर्म और अतिथि की अभ्यर्थना के समय। जो लोग सदैव सत्कार्य में नियुक्त रहते थे उन्हें उत्तरीय का व्यवहार सुविधाजनक नहीं समझ पड़ा। इससे उत्तरीय के बदले वे अभिमन्त्रित कई तार के सूत्र धारण करने लगे इस प्रकार यज्ञोपवीत का प्रचलन आरम्भ हुआ। पहले सभी ब्राह्मण यज्ञोपवीत नहीं धारण करते थे। प्राचीन पुस्तकों में इसके सम्बन्ध में यथेष्ठ प्रमाण मिलते हैं। सम्भवतः इसीसे प्राचीन मूर्त्तियों में यज्ञोपवीत का अभाव है। हाँ, दसवीं शताब्दी के पीछे जो सब मूर्त्तियाँ बनी हैं उनमें यज्ञोपवीत का प्रचलन मिलता है। सिंहल में वज्रपाणि की मूर्त्ति पाई गई है। वह इस सम्बन्ध में प्रमाण स्वरूप है। प्राचीन देवताओं और राजाओं की मूर्त्तियों में उपवीत के बदले स्वर्ण की मालाओं का प्रचलन देखा जाता है और सन्यासियों की मूर्त्तियों में केवल गले में सूत की ग्रंथियाँ दिखाई पड़ती हैं। यज्ञोपवीत की ब्रह्मगांठ माला के रूप में परिवर्त्तित हो गई थी।

विष्णु-मूर्त्ति के अन्यान्य आभूषणों में दोनों हाथों के ऊपर की ओर एक एक बहु-रत्न जटित हार पड़ा हुआ पाया जाता है। इससे वनमाला का निर्देश होता है—इस मूर्त्ति में मथुरा के कृष्ण का विशेष प्रभाव विद्यमान् है। मूर्त्ति में चार भुजायें हैं। इस प्रकार की विष्णुमूर्त्ति और काश्मीर एवं कुल्लू में प्राप्त विष्णुमूर्त्ति के साथ बौद्ध-देवता मरीचि (जो उदीयमान सूर्य के प्रतिनिधि माने जाते थे) का यथेष्ठ सादृश्य है। मरीचि के भी तीन मस्तक थे। उनमें से एक शूकरमुख विष्णु के बाराह-अवतार एवं दूसरा सिंहमुख उनके नृसिंह-अवतार का निर्देश करता है। अथवा तीनों मुख सूर्य के प्रभात-मध्याह्न और अपराह्न-कालिक तीन मूर्त्तियों का परिचय देते हैं, क्योंकि सूर्य से विष्णु देवता की अत्यधिक सन्निकटता है। वेद में विष्णु सूर्य का ही दूसरा नाम बताया गया है।

विष्णु-मूर्त्ति का कन्धा चौड़ा और कमर सिंह की सी, यह भारतीय आदर्शों से पूर्णतया गठित है। इसका शरीर मांसल, दृढ़ और सुपुष्ट है। गुप्तयुग के अन्यान्य प्रभाव भी इसमें विद्यमान् हैं। उस समय की शिल्प कला एवं प्रतिमा निर्माण विद्या का यह एक सर्व-श्रेष्ठ उदाहरण है।

दसवीं शताब्दी में भारतीय शिल्पी अपना पूर्व गौरव खो बैठे थे। केवल प्रतीक-प्रतिमाओं में उनका विकास पाया जाता था। मध्ययुग के शिल्पी धर्मात्मा लोगों की प्रदीप्त मूर्त्ति के निर्माण में दक्ष थे।

मुगल काल में मूर्त्ति-निर्माण कला की विशेष उन्नति नहीं हुई पर मुगल सम्राट इमारत बनवाने के बड़े प्रेमी थे। उनमें कई एक ने बड़े सुन्दर नगर बसाये हैं। अद्भुत राजप्रासाद और विशाल दुर्गों का निर्माण करना तो उनके लिए एक साधारण बात थी। परन्तु उनकी बनवाई हुई इमारतों में मकबरों का स्थान निराला था। मृत्यु के बाद उनका शव इन्हीं मकबरों में दफन किया जाता था। ऐसे मकबरों में ताजमहल की सबसे अधिक प्रसिद्धि है। वह विश्व में सबसे विलक्षण और सौंदर्यपूर्ण स्थापत्य कला का उदाहरण माना जाता है। अतएव जब किसी मुगल सम्राट की मृत्यु होती थी तब उसकी मृत-देह उसके जीवन-काल के इच्छानुसार ही दफन की जाती थी। तब वे स्थान विहार-भूमि के बदले मकबरों में परिणित हो जाते थे। और उनकी देख-भाल का भार मुल्लाओं को सौंप दिया जाता था। एक अंगरेज लेखक का कथन है कि मनुष्य के शिल्प-नैपुण्य के नमूनों में से इस प्रकार की इमारतें अपने ढंग की एक ही है। उसने लिखा है—

इस पृथ्वी के जिन बादशाहों और वजीरों ने अपने जीवन का समय दिल्ली, आगरा तथा फतेहपुर सीकरी में व्यतीत किया है, उन्होंने अपनी मृत्यु के बाद अपनी शव-देह को भी उसी प्रकार की

सजावट के साथ भूमिगत किया है। अपने तथा अपनी पत्नियों के लिए मकबरे बनवाना उनका एक प्रकार का मनोविनोद था। अपने अवकाश का समय वे इसी कार्य में व्यतीत करते थे। युद्ध तथा यात्रा से, षड्यन्त्र तथा महत्वाकांक्षा की व्यग्रता से एवं नाना प्रकार के भोग-विलासों से, जब वे छुट्टी पाते थे तब उनका ध्यान इसी ओर झुकता था उस समय वे भविष्य अनन्त निद्रा की कल्पना करते थे। जीवन-काल क्षणिक है। वह दुःखों से परिपूर्ण है एवं शत्रुताओं से प्रति क्षण भयाकुल है। पद-भ्रष्ट नर-पति या कृपा-पात्र सरदार सभी बातों से निराश हो जाता है। उसका सर्वस्व उसे पद-च्युत करने वाले की दया पर निर्भर हो जाता है। परन्तु इस दशा में कोई मुसलमान उसके मकबरे को नहीं विनिष्ट करेगा। वहाँ पद-च्युत बादशाह अनादृत और अपराधी वजीर, भी शान्ति में चिरनिद्रा का उपभोग कर सकेगा। अतएव इसी विश्वास के कारण मुगलों ने अपना सारा वैभव मकबरों की उत्कृष्ट रचना में दिल खोलकर लगाया था। शिल्प कला के क्षेत्र में इसलाम धर्म ने यह सर्वश्रेष्ठ विजय प्राप्त की है।"

प्राचीनकाल में भारतीय आर्यों को उद्यानों का बड़ा शौक था। भारतवर्ष का जलवायु भी ऐसा उष्ण है कि उन्हें उद्यानों की जरूरत थी। आजकल प्राचीन उद्यानों का चिन्ह तक नहीं पाया जाता। परन्तु संस्कृत-काव्यों में उद्यानों का उल्लेख किया गया है। उनसे विदित होता है कि भारतीयों ने उद्यान-शिल्प में अच्छी निपुणता प्राप्त की थी। जब भारतवर्ष में मुसलमानों का आधिपत्य हुआ तब उद्यान-शिल्प में यथेष्ट विकास हुआ। सच तो यह है कि इस कला में फारस और तुर्किस्तान की अच्छी प्रतिभा थी। फारस के कवि उद्यानों के सौंदर्य-वर्णन में ही मुग्ध हो जाते थे। कुरान में कहा गया है कि भगवान् ने सबसे पहले उद्यान की सृष्टि की। हाफिज की कविता उद्यानों के वर्णन से भरी हैं। फूलों पर मुसलमान जाति का

बड़ा अनुराग है। इसका कारण कदाचित् यह है कि कुरान में मनुष्य और पशु-पक्षियों का चित्र बनाना निषिद्ध है। इसीसे मुसलमानों के कला-कौशल में फूलों की प्रधानता है। जब सभी कलाओं में फूलों का आदर है तब पुष्पोद्यान का निर्माण करना स्वाभाविक ही है।

पाश्चात्य उद्यानों को देखने से ऐसा मालूम होता है कि मानो फूल और पौधे अपने अस्तित्व को प्रकट करने के लिए विशेष यत्नशील हैं। परन्तु भारतीय उद्यानों में जलाशय ही उद्यान का प्राण है। इटली के उद्यानों में भी कृत्रिम जलाशय बनाये जाते हैं। परन्तु वे सिर्फ शोभा वृद्धि के लिए हैं। भारतीय उद्यानों में जल ही प्रधान वस्तु है। यदि जल न रहे तो उद्यान को कोई उद्यान न कहे।

मुगलों के उद्यानों के चारों ओर ऊँची-ऊँची दीवारें घिरी रहती हैं। प्रत्येक कोने में एक गुम्मज रहता है। उद्यान के सीमान्त में एक बड़ा प्रासाद रहता है और सामने विशाल फाटक। विशालता ही मुगलों की पद्धति है। उद्यान में बड़े-बड़े वृक्ष श्रेणी-बद्ध लगाये जाते हैं। बीच-बीच में कहीं गुलाब कुंज है तो कहीं कुन्ज-गृह। शान्ति का तो वह निवास-स्थान रहता है।

काश्मीर और उत्तर-भारत में मुगलकालीन कितने ही उद्यान हैं। काश्मीर का सबसे प्रसिद्ध उद्यान है निशात बाग। इसमें सात सीढ़ियाँ भीतर और तीन-चार बाहर हैं। प्रत्येक सीढ़ी पर फूलों की क्यारियाँ और फलों के पेड़ हैं। प्रत्येक सीढ़ी के बीच में पानी बहने के लिए चौड़ी नाली है। प्रत्येक नाली का पानी जो पहाड़ से आता है, प्रपात के द्वारा नीचे की दूसरी नाली में गिराया जाता है। इस प्रकार जितनी सीढ़ियाँ हैं, उतने ही प्रपात हैं। प्रत्येक नाली में कई फौवारे हैं। सामने झील है और पीछे ऊँची पर्वत श्रेणी।

आजकल भारतीय उद्यानों में पाश्चात्य उद्यान-शिल्प का सम्मिश्रण

हो गया है। इससे उसकी भव्यता कम हो गयी है। भारतीय उद्यानों की भव्यता का अनुमान दर्शक ही कर सकते हैं।

प्रकृति के साथ मनुष्य अपना जैसा सम्बन्ध स्थापित करता है, वही उसका धर्म हो जाता है। संसार में जितने धर्म प्रचलित हैं उन सबका उद्देश्य एक ही है—वह है विश्व से मनुष्य का सम्बन्ध स्थापित करना। प्रकृति के साथ साहचर्य स्थापित होने पर मनुष्य केवल आनन्द देखता है। उसे विस्मय होता है, परन्तु वह विस्मय ही तो प्रेम है। व्यवहार से परिचय होता है और मनुष्य की कर्मशक्ति विकसित होती है। इसी से नैतिक धर्म का उद्भव होता है। भाव के आनन्द में संघर्ष दूर होता है और मनुष्य का भोगपूर्ण हो जाता है। इसी से प्रेममय धर्म की उत्पत्ति होती है जब कभी किसी देश में कोई धार्मिक आन्दोलन हुआ है तब धर्म ने अपनी रसपूर्ति को ही प्रकट करने की चेष्टा की है। सभी साधकों ने रस के प्रवाह से मनुष्य के कृत्रिम प्राचीरों को नष्ट कर एकत्व स्थापित किया। हमारी समस्त सत्ता को जाग्रत करके जो हमारे समस्त जीवन को तृप्त कर सकता है वही धर्म है। धर्म के तत्त्वमात्र से हमें तृप्ति नहीं हो सकती। धर्म का सच्चा रूप कला में ही व्यक्त होता है।

"भारतीय संस्कृति" के सम्बन्ध में श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि संस्कृत मनुष्य की विविध साधनाओं की सर्वोत्तम परिणति है। धर्म के समान वह भी अविरोधी वस्तु है। वह समस्त दृश्यमान विरोधी में सामंजस्य स्थापित करती है। भारतीय जनता की विविध साधनाओं की सबसे सुन्दर परिणति को ही भारतीय संस्कृति कहा जा सकता है। भारतवर्ष बहुत बड़ा देश है। उसका इतिहास बहुत पुराना है। इस इतिहास का जितना अंश जाना जा सका है उसकी अपेक्षा जितना नहीं जाना जा सका, वह और भी पुराना और महत्वपूर्ण है। न जाने किस अज्ञात काल से नाना जातियाँ आ-आकर इस देश में बसती रही हैं और इसकी साधना को नाना भाव से मोड़ती रही हैं। नया रूप

देती रही है और समृद्ध करती रही है। "भारतीय संस्कृति" के इसी विकास को उन्होंने "अशोक के फूल" के बहाने वर्णित किया है। भारतीय साहित्य और जीवन में अशोक फूल का प्रवेश और निर्गम दोनों ही विचित्र नाटकीय व्यापार हैं। कालिदास के काव्यों में यह पुष्प जिस शोभा और सौकुमार्य का भार लेकर प्रवेश करता है, वह पहले कहाँ था। फिर एकाएक मुसलमानी सल्तनत की प्रतिष्ठा के साथ ही साथ यह मनोहर पुष्प साहित्य के सिंहासन से चुपचाप उतार दिया गया। वह उस विशाल सामन्त सभ्यता की परिष्कृत रुचि का ही प्रतीक था। अशोक आज भी विद्यमान् है। कहीं तो कुछ नहीं बिगड़ा है, कुछ भी तो नहीं बदला है, बदली है मनुष्य की मनोवृत्ति। यदि बदले बिना वह आगे बढ़ सकती तो शायद वह भी नहीं बदलती। परन्तु, सब बदलेगा सब विकृत होगा, सब नवीन बनेगा, यही जीवन का नियम है।

भारतीय संस्कृति और उत्सव

[१]

भारतीय ग्रामों के भीतर कृषि ने प्राचीन काल से ही धर्म का एक रूप धारण कर लिया है। उसने नगर से पृथक कृषि की एक विशेष सभ्यता निर्मित कर दी है। भारतवर्ष में धार्मिक भाव की प्रेरणा से भिन्न-भिन्न ऋतुओं में जो उत्सव मनाए जाते हैं, उनमें प्रायः सभी उसी कृषि-सभ्यता के सूचक हैं। वर्ष के आरम्भ में नवरात्र की जो पूजा होती है, उसमें गेहूँ के छोटे-छोटे पौधों में जगद्धात्री की सच्ची श्री देखी जाती है और उसी की ही आराधना से वर्ष का प्रारम्भ किया जाता है। उसके बाद वर्षा के आरम्भ में भगवान की रथयात्रा के साथ कृषि आरम्भ होती है और वर्षाऋतु की समाप्ति हो जाने पर जब धरित्री शस्य श्यामला हो जाती है, तब फिर जगद्धात्री की पूजा की जाती है, तभी लक्ष्मी का आगमन होता है। वसन्त में जब वसुन्धरा का सारा वैभव संचित हो जाता है, तब सरस्वती की आराधना के बाद वसन्त का उत्सव मनाया जाता है। अपनी समस्त कलुषित भावनाओं को दग्ध कर हम लोग प्रेम के रंग में ऐसे रंग जाते हैं कि फिर छोटे-बड़े का कोई भेदभाव नहीं रह जाता। सम्पत्ति की वृद्धि के साथ यदि ज्ञान का विकास नहीं और यदि ज्ञान के विकास के साथ सच्चे प्रेम भाव का प्रचार नहीं हुआ, तो मानव समाज की उन्नति सम्भव नहीं। भारतवर्ष के प्राचीन युगों में तपोवन के भीतर जिस सभ्यता का उद्भव हुआ है, उसको जाति के जीवन में अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए प्राचीन काल से कृषि के आधार पर एक राष्ट्र-धर्म प्रचलित किया गया। उसने सभी मतों को अतिक्रमण कर राष्ट्रीय उत्सवों का

रूप धारण कर लिया। कितने ही धार्मिक उत्सवों में ग्रामोद्योग की छोटी-छोटी वस्तुओं को लेना इतना आवश्यक है कि उनके बिना पूजा ही सम्पन्न नहीं हो सकती है। उन्हीं के कारण भारतवर्ष में भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों और जातियों का व्यवधान रहने पर भी राष्ट्र की भावना विलुप्त नहीं हुई। कर्त्तव्यों का समावेश धर्म में कर देने से सभी वर्गों में अपने धर्म के भीतर एक गौरव का भाव आप से आप उदित हो गया। यही कारण है कि आर्थिक विषमता होने पर भी लोगों ने स्वधर्म को छोड़ना स्वीकार नहीं किया। सच्चा परिश्रम ही धर्म हुआ और उसी के कारण राजनीति के क्षेत्र में परिवर्त्तन होने पर भी ग्रामों के भीतर जातीय जीवन की धार्मिक धारा नष्ट नहीं हुई और कृषि के साथ ग्राम उद्योगों की उन्नति बराबर होती रही।

कृषि सभ्यता की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसके कारण श्रम विभाग के साथ सहकारिता का भाव भी सामाजिक जीवन में प्रविष्ट हो जाता है। इसी से प्राचीन काल से ही जनतंत्र का एक विशेष रूप भारतीय सभ्यता से लक्षित होता है। पौराणिक उपाख्यान है कि जब राक्षसों पर देवों ने विजय प्राप्त कर ली तब यह निश्चित हुआ कि किसी एक को मुख्य पद प्रदत्त किया जाय। भगवान शंकर के दो पुत्र हैं। एक तो कुमार कार्तिकेय हैं और दूसरे गणेश। गणेशजी को कुमार कार्तिकेय की तरह हमलोग जन्मजात पुत्र नहीं मानते। ये पुत्र बनाये गये हैं। जब मुख्य पद देने की चर्चा चली तब उस पद के लिए कुमार के साथ गणेश जी भी यह चेष्टा करने लगे कि वह पद उन्हीं को दिया जावे। कुमार सेनापति थे। उन्होंने युद्ध में तारकासुर को परास्त किया था। उनके साथ सामरिक शक्ति थी। गणेश जी विद्या के अधिष्ठाता माने जाते हैं। उनके साथ ज्ञान की शक्ति थी। अन्त में कुमार के स्थान में गणेश जी ही मुख्य पद के लिए योग्य माने गये। वही देवों में पूजा के प्रथम पात्र हुए। गणतन्त्र के लिए जो अध्यक्ष निर्वाचित होता है, उसमें जिन-जिन

गुणों की आवश्यकता होती है, वे सब गणेश जी में समाविष्ट कर दिये गये हैं। गणेश जी के बारह नाम प्रसिद्ध हैं। उनमें से प्रत्येक नाम के पीछे किसी-न-किसी गुण की गरिमा निहित है। सबसे पहले गणेश जी के लिए सुमुख शब्द का प्रयोग किया गया है। सुमुख शब्द का अर्थ होता है वह व्यक्ति जिसका सुन्दर मुख हो। गणेश जी की जो मूर्त्ति बनाई जाती है, उसे देखकर कोई भी व्यक्ति यह कह सकता है कि वे कम से कम सुमुख नहीं है। तब उनके लिए यह शब्द क्यों प्रयुक्त किया गया? बात यह है कि मुख का यथार्थ सौंदर्य आकृति में नहीं, वचन में है। वाणी के ही कारण मुख सुन्दर माना जाता है। वाणी का वह वैभव गणेश जी में था। इससे स्पष्ट है कि गणतंत्र के लिए जो गुण अध्यक्ष के लिए सबसे अधिक आवश्यक है, वह यह है कि उसमें वाणी का सच्चा वैभव होना चाहिए। उसमें वचन के माधुर्य के साथ वचन की पटुता आवश्यक है। इसके बाद गणेश जी के लिए एकदन्त होना आवश्यक बताया गया है। दमन की एक ही नीति का अनुसरण करने से न्याय की व्यवस्था स्थिर हो सकती है। लोकोक्ति प्रसिद्ध है कि जिनके खाने के दाँत और होते हैं और दिखाने के और, उनसे अन्याय ही होता है। पक्षपात-रहित नीति रखने के लिए यह आवश्यक है कि जो अध्यक्ष हो, उसे एकदंत होना चाहिए। फिर उसे कपिल होना चाहिए। अर्थात् उसमें उत्साह की लालिमा चाहिए। जिनमें उत्साह की दीप्ति रहती है, उनके मुख पर सदैव लालिमा रहती है। निस्तेज व्यक्ति का मुख पीला पड़ जाता है। कर्त्तव्य में निरत व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि उसमें उत्साह की स्फूर्ति हो। इसी के साथ उसे गज कर्णक भी होना चाहिए। हाथी के कान बड़े होते हैं। जिस व्यक्ति के कानों के पास जाकर कुछ लोग ही अपनी इच्छा के अनुसार बातें कह सकते हैं, वह कान का कच्चा माना जाता है। अध्यक्ष को यह चाहिये कि वह सभी लोगों की बातें सुने। उसके पास सभी लोगों की पहुँच हो, जिससे सभी लोग

उसको अपनी बातें सुना सकें। तभी गणेश के लिए प्रयुक्त गज कर्णक गणतन्त्र के अध्यक्ष के लिए होना सार्थक होता है। गजकर्ण के साथ ही उसे लम्बोदर भी होना चाहिये। जो एक की बात सुनकर तुरन्त ही दूसरों से वही बात कह देता है वह लम्बोदर नहीं कहा जा सकेगा। जो लम्बोदर है वह सभी की बातों को ग्रहण कर उन्हें पचा लेता है। सभी लोगों की पहुँच उसके पास अवश्य होती है। फिर भी अपने तेज के कारण वह विकट भी होता है। कठिन-से-कठिन परिस्थितियों में भी वह धैर्यच्युत नहीं होता, उसे भय नहीं होता। इतना ही नहीं, जो अन्यायी और अत्याचारी हैं, वे उसके रौद्र रूप से स्वतंत्र हो जाते हैं। तभी वह सभी लोगों के विघ्नों को दूर करने में समर्थ होता है। वह जनता को सन्मार्ग का प्रदर्शन कराता है। वह उनके लिए विनायक होता है, अपनी गौरव रक्षा के लिए उन्हें बाह्य प्रतीकों की कोई आवश्यकता नहीं होती। अन्य लोग जब अपने-अपने रथ पर चढ़ कर निकलते थे, तब अपने गौरव के सूचक स्वरूप रथ की ध्वजाओं पर, विशेष चिन्ह अंकित किया करते थे। गणेश जी के लिए ऐसे चिन्हों की कोई आवश्यकता नहीं थी। समस्त राष्ट्र में जो समृद्धि का चिन्ह यह है कि सभी लोग अपने अपने घरों में अच्छी तरह खाते-पीते और सुख से निवास करते हैं। किसी नगर में प्रवेश करने के समय यदि हम यह देखते हैं कि घर-घर में धुँआ निकल रहा है, तो हम यह स्पष्ट रूप से जान लेते हैं कि सभी घर में रसोई बन रही है। सभी समृद्धावस्था में अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं। यह धुँआ ही गणेश जी की गौरव ध्वजा का सच्चा रूप है। इसीलिए गणेश जी धूम्रकेतु कहे जाते हैं। ऐसा गणाध्यक्ष सहसा उत्तेजित नहीं होता। वह गम्भीरतापूर्वक सभी बातों पर विचार करता रहता है। उसका मस्तिष्क सदैव शीतल रहता है। उसमें चंद्र ज्योत्स्ना की विशेषता के साथ शीतलता भी रहती है। तभी वह "भालचन्द्र"

कहा जा सकता है। जो गणाध्यक्ष होता है, वह एक मात्र अपने-अपने वर्ग के स्वार्थों की पूर्त्ति के लिये सचेष्ट नहीं होता। सच तो यह है कि जितने लोग देश में निवास करते हैं, उन सभी का वह सच्चा प्रतिनिधि होता है। उसके सुख में उन सभी का सुख विद्यमान् रहता है। वह यही अनुभव करता है कि जितने प्राणी हैं उनके सुख में ही उनका सुख है। 'ग' का अर्थ होता है जाने वाला और 'ज' का अर्थ जन्म लेने वाला। गज शब्द के भीतर समस्त प्राणियों का समावेश हो जाता है। इसीलिए गज का मुख ही जिसके लिये मुख होता है उस गणेश में हम समस्त प्राणियों का प्रतिनिधित्व देखते हैं। इन्हीं भावों से प्रेरित होकर भारतीय समाज में गणेश-पूजा का जो प्रचलन हुआ उसमें समता, बन्धुत्व और स्वाधीनता के भाव समाविष्ट कर दिये गये। सभी लोगों को उन उत्सवों में समान रूप से सम्मिलित होने का अधिकार है। सभी उसमें ज्ञान के साथ कला के द्वारा सच्चे आनन्द का उपभोग करते हैं।

भारतवर्ष में शासन की शक्ति एक विशेष वर्ग के हाथ में अवश्य थी। फिर भी यहाँ की सामाजिक व्यवस्था ऐसी थी कि उसमें जनतंत्र की भावना काम कर रही थी। उच्च वर्ग और निम्न वर्ग का अस्तित्व रहने पर भी दोनों में एक ऐसा दृढ़ सहयोग था कि एक के बिना दूसरे का निर्वाह हो ही नहीं सकता था। अँगरेजी में जिसे "आलीगार्की" कहते हैं। उसका जो रूप पाश्चात्य देशों में था वह भारतवर्ष में कभी लक्षित नहीं हुआ।

यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि जनतन्त्र की सफलता जनता पर निर्भर है। लोकोक्ति प्रसिद्ध है कि यथा राजा तथा प्रजा अर्थात् जैसा शासक होता है, उसी प्रकार प्रजा भी हो जाती है। परन्तु अब राजनीति यथार्थ में जन नीति है। जनता की जैसी मानसिक स्थिति होती है, उसके विपरीत शासन की नीति निर्धारित नहीं हो सकती। जनतंत्र में लोक मत की सदैव प्रतिष्ठा होती है। इसी के

साथ यह भी कहा जा सकता है कि जनता के भीतर यह शक्ति होनी चाहिये जिससे लोकमत की प्रतिष्ठा-वृद्धि हो सके। वृद्धावस्था में जैसे आप से आप शिथिलता आ जाती है, उसी प्रकार एक विशेष स्थिति में जाति अथवा राष्ट्र के भीतर एक शिथिलता उत्पन्न हो जाती है। दुर्गा सप्तशती की तीनों कथाओं में शक्ति, सम्पत्ति और ज्ञान का बड़ा सुन्दर समन्वय किया गया है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इन्हीं तीनों के समन्वय पर राष्ट्र का विकास निर्भर रहता है। पहली कथा में यह बताया गया है कि जब जगदीश्वर निद्रावस्था में थे, तब उन्हीं के भीतर से दो प्रबल दैत्य प्रकट हुए। उनकी असाधारण शक्ति थी। वे हष्टि के मूल रूप को ही नष्ट कर देना चाहते थे। परन्तु जब भगवान अपनी योग निद्रा को छोड़ कर उठ बैठे, तब उन दोनों दैत्यों के साथ उन्हें घोरतम युद्ध करना पड़ा। उनके पराक्रम से प्रसन्न हो कर उन दैत्यों ने ही उनसे यह कहा कि तुम हमसे वरदान माँगो। तब भगवान ने वरदान के रूप में उन्हीं की मृत्यु की कामना की। तभी वे मारे गये। इस कथा का मर्म मेरी समझ में यह है कि जब राष्ट्र की मोहावस्था छोड़ देने के बाद भी राष्ट्र को दो दुर्गुणों से घोर संघर्ष करना पड़ता है तब उन दुर्गुणों को हम सहसा वशीभूत नहीं कर पाते। उन्हें स्वयं अपने पुरुषार्थ के द्वारा विनष्ट करना पड़ता है। वे दोनों दुर्गुण हैं, आलस्य और परावलंब का भाव। जाति में आलस्य का भाव इतना अधिक प्रबल हो जाता है कि वह स्वयं अपनी ओर से कुछ भी नहीं कर सकती। उसमें स्वावलम्ब का भाव ही नहीं रह जाता। वह पराश्रित हो जाती है। जिसे हम लोग अदृष्टवाद कहते हैं। उसको स्वीकार कर वह अपना सच्चा पौरुष खो बैठती है। जब तक मन की यह स्थिति है, तब तक वे दोनों दुर्गुण भी अजेय होते हैं, उनका दमन नहीं किया जा सकता। पौरुष के द्वारा जब मन में स्फूर्ति आती है, तब वे स्वयं विनष्ट हो जाते हैं। राष्ट्र में शक्ति का सच्चा स्वरूप तभी प्रकट होता है, जब उसमें न आलस्य रहता है और न परावलम्ब का

भाव । तब मानों जाति में तारुण्य की नवदीप्ति प्रकट हो जाती है। परन्तु इस अवस्था में भी अशिक्षा के कारण जो एक अज्ञान प्रकट होता है वह उन्नति के मार्ग में सबसे बड़ा बाधक बन जाता है। यही अज्ञान महिषासुर है। इसको पराभूत करने की शक्ति एक व्यक्ति में नहीं रहती। कोई व्यक्ति चाहे कितना भी अधिक शक्तिशाली क्यों न हो, उस अकेले के लिए यह संभव नहीं है कि वह अज्ञान को विनष्ट कर सके। इसके लिए छोटे-बड़े सभी को सम्मिलित रूप से अपनी अपनी शक्ति के अनुसार निरन्तर अधिकतम प्रयास करना पड़ता है। महिषासुर के वध के लिए सभी देवों ने मिलकर एक स्थान में अपनी-अपनी शक्तियों को संचित किया। तब उनसे वह शक्ति उत्पन्न हुई जिसने महिषासुर का संहार किया। अज्ञान विनष्ट हो जाने के बाद भी राष्ट्र की ऐश्वर्य-वृद्धि में दो बड़े बाधक होते हैं। अहंकार की भावना और दूसरा है देश भक्ति के लिए साम्राज्य का लोभ। इन्हीं के कारण फिर एक बड़ा संघर्ष होता है और अंत में महासरस्वती की आराधना से, ज्ञान की विशुद्ध उपासना से जो शक्ति आती है उसके द्वारा उन दोनों का विनाश होता है।

[२]

वसंत का उत्सव समाप्त कर जब हम शक्ति की आराधना कर लेते हैं, तब हमारा नया वर्ष प्रारम्भ होता है। वर्षा का प्रारम्भ होता है। वर्षा के प्रारम्भ में ग्रीष्म-ऋतु का उत्ताप हम लोगों के लिए तपस्या का काल होता है। आरंभकाल तपस्या काल होना ही चाहिये। जीवन के आरम्भ-काल में ब्रह्मचर्य की उग्र साधना और कठोर तपस्या की आवश्यकता होती है, तभी तो हम धैर्य, संयम सहिष्णुता, साहस आदि गुण प्राप्त करते हैं। जितना ही अधिक संताप होता है, उतनी ही अधिक जीवन में सुख-वृद्धि होती है, तभी तो ग्रीष्म के बाद वर्षा का काल आता है। सहिष्णुता, धैर्य और साहस की परीक्षा कर लेने के

बाद भगवान अपनी रथ-यात्रा प्रारम्भ करते हैं। भगवान की इस रथ-यात्रा के साथ ही हम लोगों की जीवन-यात्रा प्रारम्भ हो जाती है। वर्षा-काल में चार महीने अपने रथ को प्रवर्तित करने के बाद जगन्नाथ स्वयं सो जाते हैं। तब संसार का कर्मक्षेत्र भी सीमाबद्ध हो जाता है। लोग अपने क्षुद्र जीवन के क्षुद्र क्षेत्र में क्षुद्र अभावों का अनुभव कर उन्हीं की पूर्ति में व्यस्त हो जाते हैं। आषाढ़ के प्रथम दिवस में मेघ के दर्शन कर लोगों के चित्त की वृत्ति कुछ और ही हो जाती है। तब व्यवसाय के असीम क्षेत्र से हटकर उनकी चित्त-वृत्ति स्नेह की समीप परिधि में बद्ध हो जाती है। पर वर्षा-काल की समाप्ति होते ही उनकी कर्म-शक्ति में नव-स्फूर्ति आ जाती है। तब उन्हें न मेरू उच्च शिखर प्रतीत होता है, न रसातल अति नीचे जान पड़ता है और न महोदधि ही अपार ज्ञात होता है। वे व्यवसाय में ही अपनी सिद्धि का अनुभव करते हैं। तब वे अपनी शक्ति से अपने पौरुष से, अपनी क्षमता से विजय प्राप्त करने के लिये व्यग्र हो जाते हैं। यही कारण है कि शरद काल के प्रारम्भ में शक्ति की अधिष्ठात्री देवी की आराधना के बाद जो विजय-यात्रा की जाती है, उसमें सफलता प्राप्त करने के लिए लक्ष्मी की पूजा की भी आवश्यकता होती है। संसार में सम्पत्ति के साथ शक्ति का समावेश होने से ही हम लोगों को सिद्धि मिलती है।

प्राचीन आर्य संस्कृति के अनुसार भिन्न-भिन्न ऋतुओं में भिन्न-भिन्न उत्सवों का आयोजन भारतवर्ष में न जाने कब से होता आ रहा है। उन उत्सवों में हिन्दू-जाति अपनी कर्म-शक्ति के विकास के लिए प्रेरणा पाती आ रही है।

विजयादशमी एक मात्र धार्मिक उत्सव नहीं है। भारतवर्ष में यह एक राष्ट्रीय महत्त्व रखता है। इस उत्सव में लोग जैसे धार्मिक भाव प्रगट करते हैं, वैसे ही, लोग अपनी राजभक्ति भी प्रगट करते हैं, उस राजभक्ति में देशभक्ति का समावेश हो जाता था। राजा भारतीय सभ्यता में ऐसा शासक नहीं था जिस पर समाज का नियंत्रण

न हो उसे सदैव लोकाराधन और लोकमर्यादा की रक्षा करनी पड़ती थी। भगवान् रामचन्द्र जिनके विजय की स्मृति में यह उत्सव मनाया जाता है, जैसे देव थे वैसे ही राष्ट्र के प्रतिनिधि रूप राजा भी थे। इसी दिन श्री रामचन्द्र जी ने अयोध्या की राजलक्ष्मी सीताजी का उद्धार किया। इसी दिन आर्य जाति के साथ अनार्य वानर जाति के मिलन का मधुर फल प्रगट हुआ। एकता, दृढ़ निश्चय और परिश्रम के द्वारा विजयलक्ष्मी प्राप्त की गई। हम लोगों को यह सदैव स्मरण रखना चाहिये कि विश्व में हम लोगों को रावण से भी अधिक भयंकर शत्रु पर विजय प्राप्त करने के लिए निरन्तर प्रयत्न करना होगा। वह शत्रु वे बुराइयाँ हैं जो हम लोगों में ही नहीं, समस्त विश्व में फैल गई हैं। और जिनके कारण विश्व की अवस्था अशांतिमय है।

भारत की सम्पत्ति पृथ्वी से पैदा होती है। जनक ने हल चलाकर ही सीता जी को प्राप्त किया था। हम लोगों को भी हल चलाकर, वैज्ञानिक कृषि-पद्धति को स्वीकार कर सम्पत्ति की प्राप्ति करनी होगी। यदि सीताजी को रावण हर कर ले गया तो हम लोगों की सम्पत्ति भी हमारी अदूरदर्शिता, आलस्य तथा उत्साह-हीनता के कारण नष्ट होती जा रही है। इसके लिए हम सब लोगों को कृषि की उन्नति, ग्राम के संगठन और ग्रामीण उद्योग धन्धों के विकास के लिए कोशिश करनी होगी। यदि रामचन्द्र जी ने वानरों से मैत्री कर सफलता प्राप्त की तो हम लोग भी ऊँच-नीच का भेद-भाव छोड़कर एक साथ काम कर अपनी उन्नति का सेतु निर्मित कर सकते हैं।

जीवन में विजय-यात्रा किस प्रकार की जाती है, इसका यथार्थ तत्त्व इसी शक्ति और लक्ष्मी के पूजोत्सव में सन्निहित है। गणेश की पूजा से आरम्भ होकर अनन्त की अर्चना के बाद, जिसमें समस्त ब्राह्मण सब लोगों को रक्षाबन्धन से बद्ध करते हैं, हम लोगों की पितृ-पूजा आरम्भ होती है। फिर १५ दिन तक अपने पूर्वजों को श्रद्धांजलि देने के बाद हम लोग नवरात्रि में शक्ति देवी की उपासना करते हैं। उस उपासना

का अन्त होता है प्रेम और सहयोग के इस सम्मिलन में, जो विजया दशमी के नाम से प्रसिद्ध है। जीवन में विजय प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि सबसे पहले हम लोग गणेश अर्थात् जनता के यथार्थ शासक की पूजा करें, जो शासक एक दन्त अर्थात् राज-दण्ड धारण करता है, जो मूषक अर्थात् चोरों को दबा रखता है, जिसके विशाल कर्ण और सूक्ष्म दृष्टि हैं, जो सब लोगों की सभी तरह की बातें सुन लेता है और जो दूरदर्शिता से सदैव काम लेता है, जो विद्या में निष्णात होता है, जो नीति में निपुण होता है और जो विनायक अर्थात् जन-समूह का यथार्थ नेता होता है। ऐसे नेता या शासक की उपासना करने के बाद यह आवश्यक है कि हम लोग धर्म के बन्धन से बद्ध रहें। नीति और धर्म के द्वारा हम लोगों की यथार्थ रक्षा होती है। जो हमारे जीवन में धर्म औ नीति का पथ-प्रदर्शन करते हैं उन गुरुजनों के द्वारा हम लोगों के लिये जो बन्धन निर्मित होता है वही बन्धन यथार्थ में हम लोगों की रक्षा का कारण है। उस बन्धन से ही हम स्वच्छन्दता के पथ पर नहीं जा सकते। उसी बन्धन के कारण हम लोक नीति और धर्म की मर्यादा को तोड़ नहीं सकते। उसी के कारण तरुणावस्था की प्रचण्ड वृत्तियों को रोककर हम लोग गुरुजनों का आदेश मानकर उन्नति के सच्चे पथ पर अग्रसर हो सकते हैं। इसी लिए यह कहा जाता है कि प्रचंड दैत्य राज, जिस धर्म नीति के बन्धन के द्वारा बद्ध हुआ था, उसी बन्धन से प्रत्येक व्यक्ति बाँधा जा रहा है। यह बन्धन धर्म, समाज और राज्य द्वारा निर्मित अनुशासन है। इस बन्धन को तोड़ते ही सर्वत्र अशान्ति होती है, विरोध होता है, विद्वेष और वैमनस्य के भाव फैलते हैं और तब जाति या राष्ट्र या राज्य पतन की ओर अग्रसर होते है। यह अनन्त नीति है। नीति या बन्धन चिरकालीन है। यह सदैव होता है और यह चिरकाल तक बना रहेगा। इस नीति और धर्म के बन्धन को दृढ़ बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि हम लोग अपने पूर्वजों के आदर्शों का अनुसरण

करें। उन लोगों ने जिस नीति का अवलम्बन किया है, हम लोगों ने जिस प्रकार अपनी जीवन-यात्रा समाप्त की है, उस बात को हम लोग प्रत्येक वर्ष अपनी विजय-यात्रा के आरम्भ में स्मरण कर लेते हैं। पूर्वजों के द्वारा अर्जित गौरव और निर्मित आदर्श को भूलकर हम लोग कभी विजय प्राप्त नहीं कर सकते। उसी के द्वारा हम लोगों में राष्ट्रीय भावों का जागरण हो सकता है। इसके बाद हम लोगों को शक्ति की उपासना कर शक्ति सम्पन्न बनना पड़ेगा। पर हम लोग यह न भूल जायँ कि यह शक्ति प्रेम, प्रीति और प्रतीति में ही परिणत होने पर कल्याणकारिणी होती है। जिस शक्ति के द्वारा शत्रुता बढ़ती है, जिस शक्ति के कारण हम लोगों में विद्रोह और विद्वेष बढ़ते हैं उससे हम लोग कभी अपनी उन्नति नहीं कर सकते। इसलिए शक्ति की आराधना का अन्त प्रेम, विश्वास और सहयोग के सम्मिलन में होना चाहिये। जब यह सम्मिलन हो जाता है तभी हम लोग व्यवसाय और वाणिज्य की उन्नति कर सकते हैं और तभी हम सहर्ष लक्ष्मी की पूजा कर पाते हैं। यही इस विजया-दशमी के उत्सव का रहस्य है।

बाह्य-संसार में जैसे ऋतु परिवर्तन होता है वैसे ही हमारे अंतः-जीवन में भी ऋतु-परिवर्तन सा होता रहता है। हम लोगों के जीवन में ग्रीष्म, पावस, शरद्, हेमन्त और शिशिर एक के बाद एक आते हैं और चले जाते हैं। वसंतकाल का उन्माद, ग्रीष्म का संताप, पावस की आलस्यमयी वृत्ति और औत्सुक्य पूर्ण भावलीला, शरद की व्यग्रता-पूर्ण कर्मनीति, हेमन्त की प्रौढ़ गंभीरता और शिशिर की स्निग्ध चिंता ये सभी भाव हम लोगों के जीवन में क्रमशः उदित होते हैं और विलुप्त भी हो जाते हैं। तब उत्सवों द्वारा हम लोग अपने व्यक्तिगत जीवन में भी एक नवीन स्फूर्ति, प्रेरणा और शक्ति पाने का प्रयत्न करते हैं। मुझे ऐसा जान पड़ता है कि जीवन के वसंत-काल में विद्या और विज्ञान की देवी सरस्वती की आराधना के बाद वासनाओं की होलिका-दहन

कर हम लोग दुर्गा की उपासना में लीन हो जाते हैं। वैसे ही जीवन के शरद्-काल में विजय की सिद्धि के लिए शक्ति की पूजा को आवश्यक जान हम दुर्गा की आराधना करते हैं। न तो वसंत के नव-उल्लास में शक्ति की आराधना उपेक्षणीय है और न शरद की प्रौढ़ श्री में। भेद यही है कि जीवन के वसंत में तरुणावस्था के उन्माद को संयत रखने के लिए सच्चे ज्ञान के बाद शक्ति की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार जीवन के शरद्काल में प्रौढ़ कर्म शक्ति की गौरव-रक्षा के लिए पहले शक्ति की आराधना कर लेने के बाद लक्ष्मी की उपासना से देवशक्ति जाग्रत करनी पड़ती है। वसंत का होलिका-दहन जैसे क्रांति के विध्वंस का सूचक है, वैसे ही शरत्-काल का देवोत्थान प्रौढ़ चिन्तन और अध्यवसाय के बाद नवजागृति को व्यक्त करता है।

भारतीय संस्कृति और विज्ञान का विकास

भारतीय आर्यों का सर्वस्व वेद है। वेदों से ज्ञान के जिस स्रोत का उद्गम हुआ, उसी से हिंदू साहित्य आज तक प्लावित है। हमारे षड-दर्शनों और उपनिषदों ने उसी के आधार पर ज्ञान का विशाल भवन निर्मित किया है। इतना ही नहीं हिन्दुओं का ज्योतिष-शास्त्र, चिकित्सा-शास्त्र, गणित और विज्ञान, सब उसी से निकले हैं। भारतीय आर्यों ने अपने ज्ञान की अच्छी वृद्धि भी की। भारत की सजला और सफला भूमि में उन्हें आत्म-चिंतन के लिए कोई भी बाधा नहीं थी। कितने ही लोगों का विचार है कि भारतवर्ष में विज्ञान की चर्चा कभी थी ही नहीं; परंतु यह उनका भ्रम है। भारतवर्ष मे सत्य ज्ञान का पर्यायवाची है। भारतीयों का विश्वास है कि ईश्वर ज्ञानमय है, और मनुष्य उसका अंश। उसमें यह शक्ति है कि वह ज्ञानमय ईश्वर के सामीप्य को पहुँच सकता है। जो अनन्त ज्ञान की उपलब्धि के लिए अपने को योग्य समझता है; वह भौतिक पदार्थों का ज्ञान प्राप्त न करें; यह संभव नहीं।

विज्ञान में भारत ने बड़ा काम किया है। अंकगणित, रेखागणित और बीजगणित में उसी ने पहले पहल आविष्कार किए। दशमलव की रीति उसी की है। एक विद्वान का कथन है कि अरब-निवासियों ने भारतीय बीजगणित का अनुवाद अपनी भाषा में किया, और उसी से ज्ञान प्राप्त कर पिसा के लिओनार्डो ने यूरोप में बीजगणित का प्रचार किया। प्रयोगात्मक विज्ञान में भी भारत का दखल था। साठ-सत्तर साल पहले बोगदे की निर्माण-कला पाश्चात्यों को अज्ञात थी। परन्तु भारत में एलोरा के गुफा मंदिरों को बने हजारों वर्ष हो गए। जैसे लोह-स्तंभ भारत के प्राचीन कारीगरों ने तैयार किए हैं,

वैसे स्तंभ बना लेना पचास-साठ वर्ष पहले योरप तक के लिए दुष्कर था। प्राचीनकाल में बैबीलान और असीरिया भी सभ्यता के केन्द्र थे। इनका प्रभाव भारत पर पड़ा, और भारत का प्रभाव इन पर। विद्वानों की राय है कि हिंदू-स्थापत्य पर असीरिया का प्रभाव विद्यमान है। इन दोनों की देवता-सबंधी कल्पनाओं में भी आश्चर्य-जनक साम्य है। कुछ लोग यह कहते हैं कि ज्योतिष में सत्ताइस नक्षत्रों के मंडल की गणना हिंदुओं ने असीरिया के लोगों से सीखी। चिकित्सा शास्त्र में भी भारत ने बड़ी उन्नति की थी। योरोप में हिपोक्रेटस चिकित्सा शास्त्र का जनक समझा जाता है। आधुनिक अनुसंधान से विदित होता है कि उसने यह शास्त्र भारत से ही लिया था।

यदि ग्रीस ने भारत से कुछ लिया, तो उसकी वृद्धि भी अच्छी की। काव्यों में वियोगांत नाटकों की उत्पति ग्रीस में ही हुई। दर्शन शास्त्र में साक्रेटीज, प्लेटो और अरिस्टाटिल के नाम अमर हैं। यूक्लिड का नाम कौन नहीं जानता? हेरोडोटस ने इतिहास लिखकर आधुनिक इतिहास को जन्म दिया। सिकंदर की दिग्विजय के पश्चात् ग्रीस की सभ्यता प्राच्य देशों में फैल गई। पाश्चात्य विद्वानों का अनुमान है कि भारत के बौद्ध-कालीन कला-कौशल पर ग्रीस की छाया विद्यमान है। विद्या भूषण महाशय की राय है कि भारतवर्ष के न्याय पर अरिस्टाटिल के न्याय का प्रभाव अवश्य पड़ा। धर्मकीर्ति और उद्योतकर पर सीरिया और पर्शिया के नैयायिकों का प्रभाव पड़ा। कुछ लोगों की यह भी सम्मति है कि हिन्दू-नाटकों में भी ग्रीस का प्रभाव विद्यमान है।

एशिया में चीन की सभ्यता बड़ी प्राचीन है। भारत से चीन का घनिष्ट संबंध था। यह संबंध बौद्ध-धर्म के कारण हुआ। सीलोन जावा, बर्मा, स्याम और जापान भी इसी संबंध सूत्र से बँधे हैं। बौद्ध धर्म की प्रचार कथा बड़ी मनोरंजक है। चीनी ग्रंथों में लिखा है कि चीन के सम्राट् मिंगटी ने एक विचित्र स्वप्न देखा। उसने देखा

कि एक विशाल स्वर्ण-मूर्ति उसके राजमंदिर में प्रवेश कर रही है। दूसरे दिन, पूछने पर; लोगों ने उससे कहा कि आप को स्वप्न में गौतम बुद्ध का दर्शन हुआ है। तब सम्राट् ने दूत भेजकर बुद्ध की मूर्ति और धर्म-ग्रन्थ भारत से मँगवाए। उसके दूतों के साथ मातंग नामक एक भारतीय विद्वान भी गया। उसने सूत्र के बयालीस प्रकरणों का अनुवाद चीनी-भाषा में किया। उसकी मृत्यु चीन में ही हुई। धर्मरक्ष नाम का एक बौद्ध श्रमण सन् २६० में चीन पहुँचा। उसने चीन की भाषा में, १६५ बौद्ध-ग्रंथों का अनुवाद किया। ललित विस्तर का संशोधन भी उसी से कराया गया। निर्वाण-सूत्र के चीनी अनुवाद को देखकर उसी ने उसे शुद्ध किया।

सन् ३३५ में चीन-देश के निवासियों को बौद्ध भिक्षु होने की आज्ञा मिल गई। यह काम बौद्धि सिंह नामक किसी भारतीय विद्वान के आदेश से हुआ था। सम्राट् यओ-हिंग ने सन् ३८७ और सन् ४१५ ई० में भारतीय विद्वान कुमारजीव को बुलाकर आदर पूर्वक रखा। धीरे-धीरे ८०० बौद्ध विद्वान एकत्र हुए। सम्राट् स्वयं उपस्थित थे। धर्म-ग्रन्थों की रचनाओं पर विचार हुआ। राजकुमार यओवंग और यओ-सेंग ने उनकी नकल करने का भार उठाया। इसी समय फाहियान नामक चीनी-यात्री भारतवर्ष में भ्रमण करने के लिए आया! वह सन् ४१५ में चीन वापस लौटा।

सम्राट् ईत्सिंग बौद्ध धर्म का अनुयायी हुआ। वह अपने महल में बौद्ध भिक्षुओं को बुलाकर धर्मोपदेश सुना करता था। उसने संस्कृत का भी अध्ययन किया। वह संस्कृत में ही मंत्रोच्चारण किया करता था।

चीनी यात्री बराबर भारतवर्ष आया करते थे। सन् ६६५ ई० में एक बौद्ध विद्वान ताड़पत्र ५० ग्रन्थ भारतवर्ष से ले गया। उसके दूसरे ही साल १५७ चीनी यात्री आए। तोय नामक एक चीनी फाहियान

का विवरण पढ़कर इतना उत्साहित हुआ कि स्वयं भारत-यात्रा के लिए निकल पड़ा।

चीन, तिब्बत, जापान आदि देशों में बौद्ध-धर्म का प्रचार करने के लिए कितने ही विद्वान गए। चीन और तिब्बत में कितने ही भारतीय साहित्य के ग्रन्थ विद्यमान हैं। भिन्न-भिन्न शास्त्रों की भी वहाँ खूब चर्चा हुई। न्याय-शास्त्र का अबाध प्रचार हुआ। चीन में हिन्दू न्याय-शास्त्र का प्रचार हुएन-सांग ने किया। हुएन-सांग का जन्म सन् ६०० ई० में हुआ था। युवावस्था में उसने खूब अध्ययन किया। २८ वर्ष की अवस्था में उसने भारत में आकर न्याय-शास्त्र अध्ययन करने का निश्चय किया। सन् ६२८ में वह चीन से रवाना हुआ। काश्मीर में वह सांख्ययशा (Sankhya-yasha) नामक एक विद्वान से मिला। सांख्ययशा की उम्र उस समय ६० वर्ष की थी। उसने कुछ समय तक हुएन-सांग को शिक्षा दी। फिर वह मध्य भारत में आया। वहाँ उसने नालंदा में शीलभद्र के दर्शन किए। वहीं वह पाँच वर्ष तक रहकर अध्ययन करता रहा। फिर वह दो महीने तक प्रजिनभद्र के पास रहा। इसके बाद जयसेन के पास दो साल रहकर उसने शिक्षा समाप्त की। सोलह वर्ष बाद वह चीन लौटा। वह अपने साथ ६५७ सूत्र और शास्त्र ग्रन्थ ले गया। कोहफुक जी (Koh-Fuk-Ji) के मठ में रहकर उसने उनका चीनी-भाषा में अनुवाद किया। १९ वर्ष तक वह इसी काम में लगा रहा। हेतु विद्या का भी उसने अनुवाद किया। सन् ६६४ में, ६४ वर्ष की अवस्था में उसका देहांत हुआ।

चीन और जापान में भारतवर्ष का प्रभाव स्पष्ट है। इस प्रभाव की इयत्ता जानने के लिए इन देशों के इतिहास, साहित्य तथा कला का ज्ञान प्राप्त करना होगा। इनके जातीय-जीवन में भी भारतीय विचारों का प्रवेश हो गया है। क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है कि जापान

के सम्राट् अपनी उत्पत्ति सूर्य से मानते हैं; और जापान का राष्ट्रीय झंडा सूर्यांकित है। ईसा की आठवीं सदी में; भारतीय प्रभाव से ही, जापान के पुरोहितों और योद्धाओं की उन्नति हुई। आजकल भी जापानी साधुओं का रहन-सहन तथा उनकी विचार-परम्परा बिलकुल भारतीयों के समान है। सामुराई-जाति में जो मान-मर्यादा, स्वामिभक्ति तथा सरलता देखी जाती है, उसका भी कारण भारतीय प्रभाव है। प्राचीन-काल में भी चीन अपने कला-कौशल लिए विख्यात था। यह सम्भव नहीं कि भारत ने उससे कुछ भी ग्रहण न किया हो। नेपाल में भी भारतीय मंगोल-जाति निवास करती है। वहाँ हिन्दू तथा चीनी स्थापत्य का विलक्षण सम्मिश्रण हुआ है। तिब्बत, जावा, बर्मा और स्याम में भी इन दोनों सभ्यताओं का सम्मिलन हुआ है। इन देशों में भारतीय विचारों की पहुँच बौद्ध-धर्म के द्वारा हुई और मंगोलों के विचार भारत में इन्हीं देशों से होकर आए।

किसी समय बौद्ध-धर्म के प्रचारकों ने एशिया के पश्चिमी-देशों में अपने मत का खूब प्रचार किया। उन्हीं लोगों से वहाँ भारतीय-ज्ञान का प्रसार हुआ। भारतवर्ष की शिक्षा ही फारस की ज्ञानोन्नति का मूल है। इसके बाद इस्लाम का अभ्युत्थान हुआ। अरब निवासियों ने भारत से तो सीखा ही था, इधर मिस्र और ग्रीस के साहित्य ने भी अरबी-साहित्य को खूब उन्नत किया। क्रमशः मुसलमानों की राजनीतिक शक्ति बड़ी प्रचण्ड हो गई। उन्होंने एशिया, योरोप और अफ्रीका के अधिकांश भागों पर अधिकार कर लिया। भारतवर्ष पर भी उनका प्रभुत्व स्थापित हुआ। तब भारत ने भी अरब से कितनी ही बातें सीखीं। अरब-साहित्य का प्रभाव भारतीय साहित्य में आज तक विद्यमान है। खलीफा अली के वंशजों से सीरिया को छीनकर माविया ने कैसे उस पर अधिकार कर लिया; और वहाँ उम्मियाँ-वंश का आधिपत्य कैसे स्थापित किया, यह इतिहासज्ञों को मालूम है। इसी माविया ने दमिश्क में राजधानी स्थापित की। कुछ काल तक

इसके वंशधरों ने राज्य किया। अब्बासी-राजवंश ने उनका आधिपत्य हटा दिया, और अपना प्रभुत्व जमाया। इस वंश के द्वितीय खलीफा अलमंसूर ने दमिश्क से राजधानी हटाकर बग़दाद में कर दी। अरबों की विज्ञान-चर्चा के मुख्य स्थान दमिश्क और बग़दाद ही थे।

अमीर अली का कथन है कि उम्मिया-वंश के शासन काल में मुसलमानों में ज्ञान का प्रसार नहीं हुआ। इस वंश के संस्थापक माविया ने असत्पथ से राज्य प्राप्त किया था। परन्तु इसी वंश के ख़लीफ़ा उमर का आधिपत्य होने पर विद्या को खूब प्रोत्साहन मिला। उसने विलासिता में ही अपना जीवन नहीं व्यतीत किया। उसके समय में अलेक्जंड्रिया का स्थान एंटियाक और हारान ने ले लिया। ये ही शिक्षा के केन्द्र हो गए। इब्न अबजार-अलेक्जंड्रिया में ग्रीक-दर्शन का अध्यापक था। उसे खलीफा उमर ने चिकित्सा-विभाग में सबसे उच्च पद पर रक्खा।

हारान के निवासी ग्रीक और अरबी, दोनों ही भाषाओं में निपुण होते थे। उन्हीं के कारण ग्रीक-सभ्यता और भाषा का प्रभाव अरबी भाषा पर पड़ा। फिर भी उम्मिया के शासन-काल में विद्या की उन्नति अवरुद्ध थी। ख़लीफा युद्ध में लिप्त रहते थे विद्वानों का मान होता था। अबूबक्र, उमर और अली के वंशजों ने अरब-देश का नाम रख लिया।

अब्बास-वंश के अलमंसूर ने सिंहासनारूढ़ होकर बग़दाद को राजधानी बनाया। तब से बग़दाद ही विद्या का केन्द्र हो गया। शिल्प, वाणिज्य और विज्ञान की उन्नति में बग़दाद का ही सबसे ऊँचा स्थान है। अब्बास-वंश के शासन-काल में मुसलमानों का राज्य खण्ड-खण्ड हो गया। पश्चिमी अफ्रिका तो बिलकुल ही स्वतन्त्र हो गया। इस घराने के नरपति साम्राज्य-विस्तार की लालसा छोड़ कर विज्ञान की ही उन्नति में लगे। अलमंसूर को विद्या से बड़ी

अभिरुचि थी। उसके समय में भिन्न-भिन्न भाषाओं से अनेक ग्रन्थ अरबी में अनुवादित हुए। हितोपदेश और सिद्धान्त नामक ज्योतिष ग्रन्थ के अनुवाद उसी के समय में हुए। अरिस्टाटिल के कुछ ग्रन्थ टॉलेमी का आलमेजस्टा, यूक्लिड का ज्यामिति शास्त्र और प्राचीन ग्रीक तथा फारसी भाषा के अन्य ग्रंथ भी अनूदित हुए।

अलमंसूर स्वयं विद्वान था। अलंकार-शास्त्र में यह बड़ा प्रवीण था। इन अनुवादों को वह स्वयं पढ़ा करता था। उसके बाद भी जितने खलीफा हुए, सभी विद्या के प्रेमी थे। अब्बासी राजवंश के छठे खलीफा हारूँरशीद की बड़ी प्रसिद्धि है। उसकी राजसभा में अनेक विद्वान् थे। उनका खूब आदर होता था। शिल्प और विज्ञान की उन्नति में उसने खूब खर्च किया। वह संगीतज्ञों का भी मान करता था। उन्हें उपाधि तक देता था। उनकी जीविका का भी प्रबन्ध करता था। इससे उसके समय में संगीत की भी अच्छी उन्नति हुई।

उसके बाद माँमू ख़लीफ़ा के पद पर अधिष्ठित हुआ। उसके समय में अरब की सभ्यता और विद्या उन्नति की चरम सीमा को पहुँच गई। एक अंग्रेज लेखक ने लिखा है कि मध्ययुग में अरबवाले ही सभ्यता के मुख्य प्रतिनिधि थे। उन्होंने ही योरोप की असभ्यता दूर की। वे अन्य जातियों से ज्ञान-प्राप्त करके ही संतुष्ट नहीं हुए, उन्होंने स्वयं विज्ञान के नए-नए मार्ग निकाले। दूसरी जगह उसी ने यह लिखा है कि ग्रीक-विज्ञान का भी अधिकांश हमें अरबवालों से ही प्राप्त हुआ। माँमूँ का राजत्व-काल ज्ञान-युग कहा जाता है। उसके समय में टॉलेमी के आलमेजस्ट का दूसरा अनुवाद हुआ; और हिन्दू-ज्योतिष-शास्त्र पर टीका लिखी गई। ऐसे ही चिकित्सा-तत्त्व, आलोक-तत्त्व; वायु तत्त्व, दर्शन, ज्यामिति आदि विषयों पर भी अनेक ग्रन्थ रचे गये। ऐतिहासिकों का मत है कि कितने ही भारतीय विद्वान

बग़दाद गये। मन्सूर की राज सभा में गणित शास्त्र का एक विद्वान पहुँचा। हारून रशीद जब बीमार पड़ गया तब भारत से वैद्य बुलाया गया उसका नाम मनका बतलाया गया है। सुश्रुत का अनुवाद अरबी भाषा में किया है। चरक का भी अनुवाद किया गया।

अबु-मेजर ने ज्योतिष विज्ञान में अच्छी गवेषणा की। उसके ग्रन्थ से आधुनिक ज्योतिष-शास्त्र में कितने ही तत्त्व लिए गए हैं। अबुलहुसेन ने दूरबीन का आविष्कार किया था। ज्योतिर्विदों में अलबदानी का बड़ा ऊँचा स्थान है। लेटिन में उसके ग्रन्थ का अनुवाद हुआ था और उसी के आधार पर योरप का ज्योतिष-शास्त्र स्थित है। त्रिकोण-मिति और ज्योतिष-शास्त्र में सीन और कोसीन का प्रचार सबसे पहले उसी ने किया।

संसार पर मुसलमानों का जो प्रभाव पड़ा है, वह अक्षय है। भिन्न-भिन्न नगरों में उन्होंने वेधशालाएँ बनवाईं। उन्होंने विद्या और विज्ञान की खूब उन्नति की, उनका खूब प्रचार किया। भारतीयों और यूनानियों का ज्योतिष भारत तथा चीन का चिकित्सा-विज्ञान और हिन्दू तथा यूनानी दर्शन की शिक्षा; बगदाद, कैरो और कारडोवा में दी जाती थी। कितने ही संस्कृत-ग्रंथों का अनुवाद अरबी भाषा में हुआ है। कला में भी उन्होंने अच्छी उन्नति की। पहले उनके स्थापत्य पर बैजंटाइन तथा ईरानी-शैली का प्रभाव पड़ा परन्तु क्रमशः उसने अपना एक विशेष रूप धारण कर लिया। वह मिस्र और अलजीरिया पहुँचा, समरकंद होकर मध्य एशिया गया, और अन्त में ईरान, अफ़गानिस्तान और भारत आया। मुगलकाल के भारतीय स्थापत्य की सत्यता इसी प्रभाव का फल है। ईरान में अरबों और ईरानियों के सम्मेलन से एक नई जाति की सृष्टि हुई। फ़िरदौसी, हाफ़िज, सादी और दूसरे अमर कवि इसी जाति के रत्न थे। मुसलमानों के शासन-काल में फ़ारसी राजभाषा हो गई; और हिन्दू-साहित्य

पर उसका बड़ा प्रभाव पड़ा। कितने ही हिन्दू कवियों ने फ़ारसी में रचनाएँ की हैं। फारस में भारतीय-दर्शन के प्रसार में सूफ़ी धर्म की उत्पत्ति हुई।

योरप ने संसार को जो ज्ञान दिया है, उसका अभी प्रारम्भ ही हुआ है। तो भी उसका प्रभाव विश्व-व्यापी हो गया है। विज्ञान की उन्नति इतनी शीघ्रता से हो रही है कि लोग उसका प्रभाव सोच ही नहीं सकते।

कहा जाता है कि जब बर्थलो नामक विद्वान् मृत्यु-शय्या पर पड़ा हुआ था; तब वह बार-बार यही कहता था कि मैं अंतिम मनुष्य हूँ, जिसके मन में समस्त ज्ञान-विज्ञान सन्निविष्ट है। यह क्या उसकी गर्वोक्ति थी। इसमें संदेह नहीं कि उसे यह कहने का अधिकार था। अपने जीवन-काल में उसने संसार के प्रचलित ज्ञान को स्वायत्त कर लिया था। कोई उस समय जितना जान सकता था उतना वह जानता था। परन्तु उसके कथन में गर्व नहीं, विषाद भरा हुआ था। उसके कहने का अभिप्राय यह था कि उसने पृथ्वी पर जल्दी जन्म लिया और कभी लोग उस ज्ञान को भी प्राप्त कर लेंगे, जो उसके लिए बिलकुल अज्ञेय है। अंत में उसने यह कह कर अपने मन को आश्वासन दिया कि एक ही समय में समस्त ज्ञान को जानने के लिए कभी किसी भी मनुष्य के मस्तिष्क में स्थान न होगा। यह बिलकुल सच भी है। आजकल ज्ञान का क्षेत्र इतना विस्तृत हो गया है कि कोई कितना ही बड़ा मेधावी क्यों न हो, वह ज्ञान के कुछ ही अंश को स्वायत्त कर सकता है। अब इतिहास, विज्ञान, दर्शन आदि शास्त्रों की अगण्य शाखाएँ हो गई हैं। एक ही शास्त्र में पारदर्शिता प्राप्त कर लेना कठिन है, समस्त की तो बात ही क्या?

आधुनिक विज्ञान ने ज्ञान के क्षेत्र को जिस प्रकार विस्तृत कर दिया है उसी प्रकार उसने मनुष्यों के सामने अनंत साधन भी उपस्थित

कर दिए हैं। मनुष्य उन साधनों का उपयोग कर अपने जीवन को अधिक सुखमय बना सकता है।

गत सौ वर्ष से विज्ञान की विशेष उन्नति हुई है। प्रसिद्ध गणित विशारद चार्ल्स डारविन के तेरह वर्ष के वय तक आधुनिक विज्ञान और आधुनिक दर्शन की सारी बुनियाद नहीं पड़ सकी थी। रसायन शास्त्र और पदार्थ-विज्ञान के क्षेत्र में मिचल फराडे ने कार्य करना आरम्भ ही किया था। चेचक रोग के सम्बन्ध में टीका लगाने का विचार लोक-प्रिय होने लगा था। उस समय लार्ड लीस्टर और लुई पास्चुर का जन्म भी न हुआ था। उदाहरण में लिए उस समय प्रयोगात्मक-मस्तिष्क-विज्ञान जैसी किसी चीज का नाम तक न था और अँग्रेजी भाषा में समाज-शास्त्र शब्द का अस्तित्व भी न था। परन्तु अब भाफ और बिजली की शक्ति के ज्ञान ने हमारे स्थान और दूरी की कठिनाइयों की जड़ काट डाली। जब नेपोलियन मास्को से बेतहाशा भागा आ रहा था तब वियना से पेरिस पहुँचने से अपनी यात्रा का अन्तिम पड़ाव समाप्त करने से लिए उसे ३१२ घंटे लगे थे। अब इसी दूरी को कोई यात्री रेलगाड़ी से ४८ घण्टे में या वायुयान से ८ घण्टे में तय कर सकता है। हम जिस समुद्र को पाँच दिन में पार करते हैं उसी को पार करने में सौ वर्ष पहले दो महीने लगे थे। हम एक शहर से दूसरे शहर को, एक देश से दूसरे देश को वायुयान द्वारा कुछ घन्टों में ही उड़ कर पहुँच जाते हैं। हमारी डाक वायुयान ले जाता है। अपनी मोटरों से हम एक राज्य से दूसरे राज्य में पहुँचते हैं और जिन बातों के देखने में हमारे पूर्वजों को एक महीना लग जाता था उनसे अधिक हम एक दिन में देख जाते हैं। समुद्री तार और बेतार के तार से हमारा सम्बन्ध संसार के दूरतम भागों से बराबर बना रहता है। हजारों मील दूर बैठे हुए अपने मित्र से हम बात-चीत करते हैं। अपने पुस्तकालयों में बैठे-बैठे हम पाँच सौ मील या उससे अधिक दूर से गाना-बजाना और व्याख्यान सुनते

हैं। जिन घटनाओं को कुछ ही लोग देख सके हैं वे फिल्म द्वारा सारी मानव जाति के सम्मुख उपस्थित हो जाती है।

सौ वर्ष पहले एक मनुष्य मानव-ज्ञान के पर्याप्त अंश को हृदयङ्गम करके पूर्ण पण्डित हो सकता था, परन्तु आज वही बात बिलकुल असम्भव है। ज्ञान की उत्तरोत्तर वृद्धि होने के कारण कोई आदमी अपना मार्ग तक मुश्किल से खोज सकता है। परिणामों के सारे समूहों को बिना किसी जाँच पड़ताल के चुपचाप स्वीकार कर लेना पड़ता है, क्योंकि अब हम विद्या के अधिकांश विभागों के विषयों में प्रवेश तक नहीं कर सकते।

मनुष्यों ने जो यह पेचीदा यन्त्र-समूह तथा विस्तृत ज्ञान का का निर्माण किया है वे क्या मानव-जाति का सेवक बनकर रहेंगे या अपने निर्माता के संहारक बनेंगे? विज्ञान से मनुष्य की शारीरिक शक्तियाँ हजारों गुनी अधिक हो गई और उसी परिमाण में रचना और विनाश दोनों के लिए उसकी क्षमता बढ़ गई है। परन्तु इस क्षमता का उपभोग भविष्य में कैसे किया जायगा? हम विनाशक शक्तियों की वृद्धि को कैसे रोक सकते हैं? इन नवीन शक्तियों के प्रतिकार के लिए क्या हमारे पास तद्वत् आध्यात्मिक सामग्री है? क्या शिक्षा काफी शीघ्र गति से चल सकती है। उस नेतृत्व को केवल पराभूत करने के लिए नहीं, किन्तु उन्नति की दौड़ में बराबर रहने के लिए।

उपर्युक्त प्रश्न भयंकर हैं। इनके उत्तरों में मानव-जाति का भविष्य निर्भर है। परन्तु स्पष्ट बात यह है कि वर्तमान पीढ़ी का कोई बुद्धिमान व्यक्ति इनका उत्तर नहीं दे सकता है। १६१४ तक हममें से अधिकांश परिणाम सम्बन्ध में सन्तुष्ट और भविष्य के लिए भी प्रसन्न थे। मानव जाति के विकास के लक्ष्य तथा उसकी समृद्धि के सम्बन्ध में हमने खूब चिकनी-चिकनी बातें की परन्तु अब हम समझते हैं कि हम कुछ नहीं जानते थे। झूठी कल्पनाओं से हम धोखे

में पड़ गये। मानव संहार के चार वर्षों ने हमारी आँखें खोल दी हैं। अब हम उस खन्दक को देखते हैं जिसके किनारे मानव जाति खड़ी है।

सौ वर्षों के बाद क्या होगा, साधारण मनुष्य को इस विषय में अधिक उत्साह नहीं हुआ करता है, क्योंकि यह एक इतना लम्बा समय है कि उसके सम्बन्ध में कोई निश्चित अनुमान भी नहीं किया जा सकता है। किन्तु वैज्ञानिक दृष्टि से एक शताब्दी कुछ मिनटों के ही बराबर है, क्योंकि सृष्टि के अनन्त जीवन में शताब्दी को मिनटों की उपमा देना किसी प्रकार अनुपयुक्त नहीं है। आज सन् १९२३ और २०२३ के बीच में जो कुछ मिनट बीतता है, उनमें संसार विकास मार्ग में कहाँ तक पहुँच जायगा, उसके विषय में विद्वान बड़े ही रोचक अनुमान बाँध रहे हैं।

आधुनिक उन्नतिशील व्यवसायियों की धारणा है कि समय ही रुपया है, अतएव उनको जीवन की वर्त्तमान अवस्था से अधिक सन्तोष नहीं है क्योंकि अधिकांश समय खाने-पीने, खेलने-कूदने, सोने या घूमने में बिताना पड़ता है। जब लोगों का यह दृढ़ सिद्धान्त है कि जो समय के अपव्यय से जितना ही अधिक बचेगा, वह उतना ही अधिक सफल होगा; तब यह निश्चित है कि इस आदर्श की प्राप्ति में दिन प्रति दिन उन्नति होती जायगी। यह एक प्रकार से प्रत्यक्ष है कि आगामी शताब्दी में यातायात के साधनों में कल्पनातीत उन्नति होने वाली है, जिससे समय की भारी बचत हुआ करेगी। सोने के समय में भी कमी करने के विरुद्ध कोई बाधा नहीं दिखाई देती है। तीन-तीन बोतल साफ करने वाले मनुष्य तो बहुत दिन हुए इस संसार से उठ गये। अभी कुछ वर्ष पहले तक प्रथा थी कि व्यवसायियों को अपने इष्ट मित्रों के साथ भोजन करने में घण्टों बिता देना पड़ते थे। किन्तु आज कल डबल रोटी और बिस्कुट में ही उनकी तृप्ति हो जाती है। अतएव सौ वर्षों में कार्यालय की टेबिल पर बैठे-बैठे ही जलपान कर लेना उनके लिए पर्याप्त होगा। वास्तव में आज व्यवसायी को

किसी व्यर्थ काम में समय नष्ट करना बड़ा अखरता है। अभी टेलीफोन के द्वारा वह अपने मित्र के साथ केवल मिलने के समय निश्चित कर पाता है किन्तु उसका जी चाहता है कि कोई ऐसी युक्ति निकल आवे जिससे वह टेलीफोन के द्वारा ही अपने मित्र को अपने पास बुला सके। सौ वर्षों में कम से कम टेलीफोन उसकी मोटरकार और टमटम, भोजनालय और शयनागार में सर्वत्र लगा दिया जा सकेगा और वह मौज से अपने मित्रों के साथ बातचीत किया करेगा। और आजकल की तरह उसका काम छोड़ कर 'सुनो' 'सुनो' की आवाज पर टेलीफोन के पास न दौड़ना पड़ेगा। सम्भव है, वह अपने मित्र के साथ केवल बातचीत ही न कर सके, प्रत्युत उसके दर्शन भी कर सके, हजारों कोसों की दूरी पर बैठकर व्याख्यान सुन लेना तो कोई बात ही न रह जायगी। उस समय आधुनिक खेलों में लोगों को आनन्द नहीं आयेगा, दूसरों के कामों में उत्साह दिखाना ही व्यवसायियों का खेल होगा। आजकल की तरह हजारों रुपयों का चन्दा करके अन्तर्राष्ट्रीय अखाड़ों में भाला-बर्छी चलाने वालों को तैयार करना मूर्खता समझी जायगी। विचारशक्ति को सँभालने भर के लिए शारीरिक शक्ति की आवश्यकता रह जायगी, पट्ठों को आवश्यकता से अधिक बढ़ाना जंगली भीलों और बन्दरों का काम समझा जायगा।

हमारी सड़कों का एक दूसरा ही रूप होगा। लन्दन की आमदरफ्त का प्रबन्ध करने के लिए नई-नई सड़कों का निर्माण करना पड़ेगा। आज भी लन्दन में यदि अमरीका की भाँति मोटरकार का प्रचार हो जाय तो एक नई समस्या उपस्थित हो। न जाने धरातल के नीचे कितनी सड़कें खोदना पड़ें। फर्श पर चलना हमारे लिए अति कठिन हो जायगा, बाजार में एक से दूसरी दुकान पर आने-जाने के लिए चलती-फिरती सीढ़ियों की आवश्यकता होगी सम्भव है, बड़ी सड़कों पर छत डाल दी जावे, क्योंकि बहुत ही थोड़े मूल्य में पिकेडेली सरीखी सड़क पाटी जा सकेगी।

धीरे-धीरे कड़ी धूप, अधिक शीत या वर्षा में बाहर निकलना हमारे लिए असम्भव हो जायगा। शायद बिना चश्मे के किसी का काम ही न चले। वायुयानों के द्वारा ही हम सारे संसार में दौड़ा करेंगे। उस समय आजकल की तरह चार-पाँच मील दूर किसी स्टेशन पर नहीं उतरना होगा, वरन् हम सीधे सुन्दर सड़क के किनारे किसी रम्य होटल की छत पर उतर सकेंगे। सड़कों पर गन्दगी का नाम नहीं रहेगा, रात्रि भर बिजली की रोशनी जगमगाती रहेगी, कुहरे की धुन्ध रोकने का भी प्रबन्ध हो जायगा। और शोरगुल भी मिट जायेगा। तब भला कौन आदमी इन सड़कों को छोड़ना चाहेगा।

इसी प्रकार हमारे घर भी अधिक सुन्दर होते जायँगे, शीत से हमारी पूर्ण रक्षा हो सकेगी। मनुष्य मात्र की आराम चाहने की प्रवृत्ति दिन प्रतिदिन बढ़ती जाती है। मोटरकार में परदे के बिना अब काम नहीं चल सकता क्योंकि उसके बिना हवा असह्य हो जाती है।

केन्द्र स्थानों में बिजली के बड़े-बड़े संग्रहालय बन जायँगे, जहाँ से यथेष्ट बिजली की शक्ति मिल सकेगी। सड़कों की घड़ियाँ, और सम्भव है हमारी जेब घड़ियाँ उसी शक्ति के द्वारा चला करें। कपड़े पहनने से आध घंटे से अधिक समय न लगेगा और आवश्यकता होगी तो बिजली के द्वारा उनमें गरमी भी पहुँचाई जा सकेगी। मोटरकारों में हर प्रकार का आराम होगा, संग्रहालयों से उनमें बिजली की शक्ति भी भर ली जाया करेगी। साधारण गाड़ियों की भी चाल बढ़ जायगी और वायुयान तो इस तेजी से चलेंगे कि यातायात के वर्त्तमान साधन उसी प्रकार प्रतीत होने लगेंगे जिस प्रकार आजकल बैलगाड़ी। विचार परिवर्त्तन किस द्रुतगति से होगा यह अभी कल्पना के बाहर है। सम्भव है इंगलैण्ड से महाद्वीप पर जाने के लिए कोई रास्ता खोदा जाय क्योंकि टापू उन्नति की दौड़ में दौड़ने के लिए पर्याप्त नहीं हैं!

एक शताब्दी के बाद शासन व्यवस्था का क्या रूप होगा? वर्त्तमान राजनैतिक प्रगति को देखते हुए इस विषय में कुछ नहीं कहा जा

सकता है। शासितों को स्वतन्त्रता प्राप्त होगी अथवा नहीं, यह अभी सन्देहजनक है। वर्त्तमान प्रजा सत्तात्मक प्रणाली के अनुसार प्रजा को शासन में वास्तविक अधिकार प्राप्त हो सकेंगे, यह कहना महा-कठिन है। हाँ एक बात प्रत्यक्ष सी है कि फिर शीघ्र ही एक संसार व्यापी महासमर होगा, और बड़ा भयंकर समर होगा, इतना भयंकर कि विगत यूरोपीय महायुद्ध उसके आगे बच्चों का खेल मालूम होगा। विज्ञान के फूल में यह एक बड़ा भारी काँटा है। गैस और बिजली के द्वारा मनुष्य के प्राण हर लेना तो कोई बात ही न रह जायगी। शीघ्र से शीघ्र और घोर से घोर प्रलयकारी यन्त्रों का निर्माण होगा। वैज्ञानिक उन्नति से उदार वृत्तियों की अपेक्षा प्रवृत्तियों को अधिक उत्तेजना मिलने की सम्भावना है।

समाज में भी भीषण परिवर्त्तन की सम्भावना है। सन् २०२३ तक स्त्रियों का स्वातन्त्र्य-युद्ध का यदि और कुछ परिणाम न हुआ तो कम से कम इतना तो होगा कि वे पुरुषों के समान कपड़े अवश्य पहनने लगेंगी। अपराधियों को, सम्भव है, कठिन दण्ड देने की प्रथा बिल्कुल उठ जायगी। यह भी सम्भव है कि अमरिका की वर्त्तमान अवस्था के अनुसार मनुष्य दिन प्रतिदिन एक दूसरे से अधिकाधिक उदासीन होते जायँ। कुछ भी हो, जिस प्रकार आज हम कहते हैं कि हमारे पुरखा बड़े भोले-भाले थे, आश्चर्य नहीं कि उसी प्रकार सौ वर्ष के बाद हमारे बाल-बच्चे हमारी अल्पज्ञता पर हँसने का दावा करने लग जायँ।

रस्किन ने अपने एक ग्रन्थ में लिखा है, 'विज्ञान की उन्नति का यही फल हुआ है कि उससे प्राण संहारक यन्त्रों के आविष्कार हुए।' एक दूसरे विद्वान जार्ज गिसिंग ने कहा है, 'मैं विज्ञान से डरता हूँ और उससे मेरी घृणा भी है, क्योंकि मेरा यह विश्वास है कि अभी दीर्घकाल तक वह मानवजाति का सबसे प्रबल शत्रु रहेगा। इसी तरह अन्य कई विद्वानों ने भी विज्ञान को मनुष्यों का संहारक भी माना है। उनका

कथन है कि उसी से हमारा जीवन अव्यवस्थित हो रहा है। परन्तु अब विज्ञान की गति रोकने की चेष्टा करना व्यर्थ है। लोग चाहे उसकी निन्दा करें या प्रशंसा उसकी उत्तरोत्तर उन्नति ही होती जायगी। गत पचास वर्षों में विज्ञान की आश्चर्यजनक उन्नति हुई। इस काल में जितने वैज्ञानिक आविष्कार हुए हैं उतने पहले कभी नहीं हुए। सच तो यह है कि हम विज्ञान के द्वार तक पहुँच चुके हैं और अब शीघ्र ही हम उन शक्तियों का पता पा लेंगे जो अभी मनुष्यों के लिए कल्पनातीत हैं। इन शक्तियों का उपयोग मानव समाज की कल्याण-वृद्धि में किया जायगा या नहीं, यह समाज के नेता सोचें। विज्ञान का इस प्रश्न से सम्बन्ध नहीं है। हमारा तो यह कर्त्तव्य है कि हम अपने को उन शक्तियों के उपभोग करने के योग्य बनावें जिन्हें वैज्ञानिक प्रकृति के अनन्त राज्य से ला रहे हैं। यदि हम योग्य होंगे तो विज्ञान मानव-जाति के लिए अवश्य श्रेयस्कर होगा। यदि युद्धों में वैज्ञानिक सिद्धांतों का दुरुपयोग किया जाता है तो उसका उत्तरदायित्व विज्ञान पर नहीं है। उसी तरह यदि प्रकृति के सौन्दर्य से युक्त गाँव के स्थान में तंग सड़क, दुर्गन्धपूर्ण नाली और गन्दे मकानों से युक्त और दरिद्रता-ग्रस्त नगर बस जाँय तो उसे हम विज्ञान की उन्नति नहीं कहेंगे। यह तो मनुष्य की स्वार्थपरायणता और लोभ का फल है। इसलिए विज्ञान की निन्दा करने के स्थान में हमें मनुष्यों में सद्धर्म का प्रचार करना चाहिए। धर्म ही से मानव-जाति ठहर सकेगी। धर्माधर्म का ज्ञान लुप्त हो जाने से मनुष्यों का शीघ्र ही संहार हो जायगा। वह समय दूर नहीं है जब एक ही मनुष्य के पास इतनी शक्ति हो जायगी कि वह सिर्फ एक बटन दबाकर एक समूचे नगर को नष्ट कर देगा। यदि इस शक्ति का दुरुपयोग होने लगेगा तो सचमुच प्रलय-काल उपस्थित हो जायगा।

●

भारतीय संस्कृति और धर्म

धर्म का एक सनातन रूप है, जो सभी देशों और सभी युगों में विद्यमान रहता है। मनुष्य समाज का विकास होता रहता है, और उसके साथ संस्कृति और सभ्यता का भी विकास होता रहता है। विकास का मूल-सिद्धान्त यह है कि बाह्य अवस्था के साथ आभ्यंतरिक अवस्था का सामंजस्य करके प्रकृति का क्रमशः विकास होता है। जितना ही यह सामंजस्य विस्तृत और पूर्ण होगा, उतना ही प्रकृति का विकास होगा। संसार में उन्नति का मूल-मंत्र यही सामंजस्य-विधान की चेष्टा है। अन्तर्जगत और बाह्य जगत, दोनों का योग ही विश्व-प्रकृति है। उसमें ये दोनों ही सत्य हैं, और दोनों एक दूसरे की अपेक्षा करते हैं। इन दोनों में जैसा सम्बन्ध स्थापित होता है, उसी से विश्व में विकास और परिवर्तन होते हैं। प्रकृति के सभी कार्यों में सत्य की सत्ता है। विश्व के विकास में भी सत्य है। अभी तक संसार का जैसा विकास होता गया है, वह अमूलक नहीं है। ऊँच-नीच का भेद अवश्य है। बाह्यजगत और अंतर्जगत में जो सम्बन्ध स्थापित होता है, वह जितना ही पूर्ण होता है, उतना ही उत्कृष्ट उसका विकास भी होता है। प्राणिजगत में बाह्य अवस्था के लिए निकृष्ट जीवन के शरीर यन्त्र जितने उपयोगी हैं, उससे अधिक उपयोगी उत्कृष्ट जीवन के शरीर-यन्त्र हैं। इससे यह स्पष्ट है कि इस सम्बन्ध की पूर्णता के ऊपर ही विकास का उत्कर्ष और अपकर्ष निर्भर है। इसी नियम के अधीन जगत् में भिन्न-भिन्न जीवों की उत्पत्ति स्थिति और उन्नति होती है। शारीरिक, मानसिक और नैतिक, सभी अवस्थाओं के विकास में यह उपयोगिता न्यूनाधिक्य भाव से रहती है। बाह्य अवस्था हमारी प्रकृति पर सदैव अपना प्रभाव डालती है और उसी के

अनुरूप हमें बनाना चाहती है। यह प्रभाव प्रकृति में जैसा प्रतिफलित होता है, वैसा ही उसका विकास होता है। अतएव हमारी प्रकृति के विकास में वाह्य अवस्था प्रवर्तक के रूप में वर्तमान रहती है। इसी से वाह्य अवस्था पर ध्यान रखकर धर्म के भी विकास की व्याख्या करनी होगी। हम लोगों का उन्नत इंद्रिय-समूह, उत्कृष्ट सहज बुद्धि, पवित्र नैतिक बल, ये सब साधारण जीवन व्यापार के ही परिणाम हैं। यदि हम किसी परिणाम अथवा परिवर्तन को समझना चाहते हैं, तो हमें वाह्य-विषय के साथ उसका सम्बन्ध देखना होगा। इसी सम्बन्ध-सूत्र से विकास के समस्त रहस्य का उद्घाटन हो जाता है। जगत के सभी परिणामों का मूल अतीत में विद्यमान है। अतीत के सम्बन्ध-बन्धन से ही जीवन के समस्त व्यापार शृंखला-बद्ध हैं। इस प्रकार हम सभी परिणामों में विकास की अविच्छिन्न धारा—भूतकाल से वर्तमान काल तक देख सकते हैं। किसी भी परिणाम का यथार्थ रूप देखने के लिए हमें निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना पड़ेगा—(१) उसके मूल का वाह्य विषय, (२) उसके विकास की धारा, (३) उसका वर्तमान रूप। इसी रीति से अनुसंधान करके विद्वानों ने प्राकृतिक विज्ञान की रचना की है। परन्तु मनुष्य का जो नैतिक और धार्मिक विकास हुआ है, उसके मूल में वाह्य विषय को उपलब्ध करना सहज नहीं है। इसी से उसके सम्बन्ध में कोई भी परिष्कृत सिद्धान्त निश्चित नहीं हुआ है। हर्बर्ट स्पेंसर ने यह स्थिर किया है कि पृथ्वी पर ऐसा कोई भी विकास नहीं है, जो वाह्य विषय-मूलक न हो। प्रकृति के किसी भी विभाग में ऐसा कोई भी परिणाम प्रत्यक्ष नहीं है, जिसका अवलंब वाह्य विषय न हो। किन्तु नैतिक तथा धार्मिक भाव प्रत्यक्ष नहीं हैं। इसी कारण वाह्य विषय से उनका सम्बन्ध ढूंढ़ना कठिन हो जाता है। परन्तु प्रत्यक्ष विषय के दृष्टांत से मूल का अनुसंधान करने पर वाह्य विषय से उसका सम्बन्ध लक्षित होने लगता है।

आदि काल से मनुष्य समाज में नीति और धर्म-ज्ञान का परिचय

पाया जाता है। पृथ्वी पर ऐसी कोई असभ्य जाति नहीं हुई, जिसमें इन दोनों भावों का अंकुर न देखा गया हो। नैतिक विकास का कारण है समाज की स्थिति और उन्नति। इन भावों का लोप हो जाने से समाज में उच्छृँखलता फैल जाती है। समाज के कल्याण के लिए मनुष्यों की कुछ मनोवृत्तियाँ अनुकूल हैं, और कुछ प्रतिकूल। अनुकूल मनोवृतियों की स्फूर्ति से मनुष्य का नैतिक जीवन संगठित होता है। एक कारण और भी है। वह है अपार्थिव जगत् की भावना।

फिश्के नामक विद्वान् ने धर्म-विज्ञान के विकास का वर्णन इस प्रकार किया है—पृथ्वी के इतिहास में उस समय एक विशेष परिवर्तन काल उपस्थित हुआ; जब मानव-जीवन में प्रेम का आविर्भाव हुआ। तब मनुष्य की विकासोन्मुख आत्मा में पाप और पुण्य की धारणा का उद्गम होने लगा। परिवार का संगठन होने लगा। समाज-बन्धन का आरम्भ हुआ। निराकार भावों ने साकार भाषा का रूप ग्रहण किया। इसी समय से मनुष्य का विकास उच्चतम अवस्था की ओर अग्रसर होने लगा, और शारीरिक विकास के साथ सभ्यता का संयोग हुआ। इसी के बाद हम मानवीय आत्मा को, संसार के अस्थिर व्यापार छोड़कर, अज्ञात रूप से एक नित्य सत्ता की ओर प्रयाण करते हुए देखते हैं। अदृष्ट जगत से एकता स्थापित करके मनुष्य अपने अन्तर्गत भावों को निश्चित करने की चेष्टा करने लगा। इसमें संदेह नहीं कि उसके मानसिक भाव पूर्णावस्था को नहीं पहुँच सके थे। उनकी अभिव्यक्ति में विलक्षणता भी थी। परन्तु मुख्य बात यह है कि जीवन के प्रारंभ-काल में ही मनुष्य एक अतींद्रिय नैतिक जगत् से अपना संबंध स्थापित करने की चेष्टा करने लगा। यह बात उपेक्षणीय नहीं है, क्योंकि मानव-समाज के विकास में इसी धार्मिक भावना का सबसे अधिक प्रभाव पड़ा है। यदि जीवन के आदिकाल में इस धार्मिक भावना का उद्गम न होता, तो मनुष्य समाज किस दशा को पहुँच जाता, इसका—अनुमान तक हम नहीं कर सकते। यह सभी को

स्वीकार करना पड़ता है कि मानव-समाज के अस्तित्व का मुख्य कारण धर्म है।

जो अदृष्ट है; जो अनुभव-गम्य नहीं; उसके लिए मनुष्य इतना प्रयास क्यों स्वीकार करता है? अदृष्ट जगत् का अस्तित्व मानकर उसके लिए वह क्यों इतना व्याकुल होता है? विद्वानों का कथन है कि ससीम मनुष्य ने असीम को पाने के लिए जन्म लिया है। अपूर्ण मनुष्य पूर्ण पुरुष में ही जाकर संपूर्णता प्राप्त करता है। अनंत की आकांक्षा स्वाभाविक है। मानवात्मा की स्वाभाविक गति अनंत की ओर है। अनंत की आकांक्षा से ही मनुष्य में धर्म-भाव की उत्पत्ति होती है। मैक्समूलर ने इसी सिद्धान्त की पुष्टि में लिखा है कि सभी धर्मों के मूल में अनंत की धारणा विद्यमान है। जिस प्रकार 'ज्ञान' इंद्रिय-ग्राह्य है और सीमाबद्ध पदार्थ के तत्वानुसंधान में व्याप्त है; उसी प्रकार 'विश्वास' असीम के अनुसंधान में व्यस्त है।

अनंत की इच्छा मानव-जीवन में पूर्ण रूप से प्रविष्ट हो गई है। दार्शनिकों का कथन है कि ज्ञान, प्रेम और इच्छा, इन्हीं से मनुष्य जीवन है। इन तीनों की गति किस ओर है? क्या ज्ञान की—कभी तृप्ति होती है? प्रतिदिन नए-नए सत्यों का आविष्कार होता जा रहा है; तो भी विद्वान लोग सत्य के अनुसंधान में संलग्न हैं। बात यह है कि सत्य का यथार्थ स्वरूप अनंत ईश्वर है। इसी से ज्ञान का अंत नहीं। यही बात प्रेम और इच्छा के विषय में कही जा सकती है। प्रेम और इच्छा की तृप्ति किसी असीम वस्तु से संभव नहीं। यही कारण है कि मनुष्य अनंत ईश्वर पर विश्वास करता चला आ रहा है।

अनन्तकाल से मनुष्य उसी अलक्षित जगत् के रहस्यागार को देखने के लिए व्याकुल हो रहा है। वह जानता है कि, इह जगत् ही उसका सर्वस्व नहीं है; यहीं उसकी जीवन-यात्रा की समाप्ति नहीं होती। परन्तु उसका गंतव्य स्थान कहाँ है, यह उसे ज्ञात हो या

अज्ञात, वह आगे ही बढ़ता जायगा। उसका सारा प्रयास उसी के लिए है। प्राचीन संस्कृति की अलौकिक कल्पना में उसी अनंत का आभास पाया जाता है। मध्यकालीन संस्कृति के भक्तिवाद में उसी का दिग्दर्शन हुआ है। आधुनिक संस्कृति में भी उसी की ओर हमारी प्रवृत्ति है। यही प्रयास मनुष्य के साहित्य में प्रकट होता है। यही उसकी कला में दर्शित होता है। विज्ञान और दर्शन-शास्त्र में उसी की चिन्ता रहती है। मैत्रेयी की तरह मनुष्य की आत्मा यही कहती है—मैं उसे लेकर क्या करूँ, जिससे मैं अमृत नहीं हो सकती ? संस्कृति का यही चिरंतन भाव है। धर्म का यही सनातन भाव है। यहीं संस्कृति और धर्म का सम्मिलन होता है।

प्रकृति के साथ मनुष्य अपना जैसा संबन्ध स्थापित करता है; वही उसका धर्म हो जाता है। संसार में जितने धर्म प्रचलित हैं, उन सबका उद्देश्य एक ही है। वह है विश्व से मनुष्य का सम्बन्ध स्थापित करना। मनुष्य को प्रकृति ने चारों ओर से घेर रखा है। वह उसी में आबद्ध है। परन्तु किसी अति प्राकृत और अतीन्द्रिय सत्ता पर मनुष्य का विश्वास चिरंतन है। वह जानता है कि प्रकृति से भी परे कोई है। वह क्या है; इसे वह अच्छी तरह भले ही न समझ सके; किन्तु उसे यह दृढ़ विश्वास है कि जब तक वह इस प्राकृतिक माया-पाश को काटकर ऊपर नहीं उठेगा, तब तक वह अपना यथार्थ धर्म नहीं देख सकेगा। प्रकृति ही मनुष्य के हृदय में विस्मय का भाव उत्पन्न करती है। उसी के साथ मनुष्य का पहला सम्बन्ध होता है। कभी वह प्रकृति को मायाविनी समझकर उससे अपना सम्बन्ध छोड़ देना ही श्रेयस्कर समझता है और कभी वह उसको शक्ति-रूप में देखकर अपने को उससे योग-युक्त करना चाहता है। परन्तु प्रकृति चाहे शक्ति हो या माया, उसी के भीतर हमारी यात्रा होती है। यदि वह बंधन है, तो भी बिना उस बंधन को स्वीकार किये मुक्ति का उपाय नहीं है। प्रकृति से हमारा दृढ़ सम्बन्ध है। अब विचारणीय

यह है कि संसार के भिन्न-भिन्न धर्मों ने इस सम्बन्ध को किस रूप से स्वीकार किया है ?

प्रकृति के साथ हमारा पहला सम्बंध व्यावहारिक होता है। पृथ्वी पर अवतीर्ण होते ही मनुष्य को प्रकृति से व्यवहार करना पड़ता है। कभी एक ऐसा समय था, जब मनुष्य प्रकृति के ही आश्रित था। परन्तु अब सर्वत्र मनुष्य की गति है। प्रकृति से व्यावहारिक सम्बन्ध स्थापित करने में मनुष्य ने सबसे पहले यह शिक्षा ग्रहण की कि हमें अपने जीवन की रक्षा के लिए संग्राम करना पड़ेगा। जो संग्रामशील हैं, जिनकी गति अप्रतिहत है, वे ही प्रकृति से व्यावहारिक सम्बन्ध रख सकते हैं। जिनमें यह शक्ति नहीं, उन्हें प्रकृति स्वयं नष्ट कर देती है। इसी सम्बन्ध से मनुष्य की कार्यकारिणी शक्ति प्रबुद्ध हुई, और इसी से मनुष्य प्रकृति पूजा की ओर आकृष्ट हुआ। प्रकृति की इन्द्र, चन्द्र, वायु, वरुण आदि प्रचण्ड शक्तियों के आगे मनुष्य की शक्ति अत्यन्त क्षुद्र प्रतीत होती थी। अतएव उनके प्रति मनुष्य के हृदय में विस्मय और आतंक का होना स्वाभाविक था। इसी से उनको अपने अनुकूल करने के लिए मनुष्य उनकी पूजा करने लगा। जब उसे यह ज्ञान पड़ा कि प्रकृति की ये शक्तियाँ उसके अनुकूल हैं, तब उसके हृदय में भक्ति और आनन्द का प्रादुर्भाव हुआ। ये ही तीन भाव विस्मय, भक्ति और आनंद—मनुष्य की समस्त धार्मिक भावनाओं के मूल कारण हैं। इन भावों को मनुष्य ने अपनी सभ्यता के प्रथम स्तर में ही प्राप्त कर लिया।

प्रकृति से व्यावहारिक सम्बन्ध स्थापित होते ही पहले-पहल यही ज्ञात पड़ता है कि प्रकृति हमारे विरुद्ध है। प्रकृति में व्यक्तित्व का कोई स्थान नहीं है। उसका जो एक उद्देश्य है, उसी की पूर्ति के लिए प्रत्येक वस्तु है। वह असंख्य का विनाश कर अपने इस उद्देश्य को पूर्ण करती है। परन्तु जब प्रकृति से अधिक परिचय हो जाता है,

तब हम उसका अधिक ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। तब हम यह जान जाते हैं कि प्रकृति के इस संग्राम में प्रतियोगिता नहीं, सहयोगिता है। प्रकृति केवल सामंजस्य और समन्वय स्थापित करने में व्यस्त है। व्यक्तित्व की पूर्णता तभी होती है, जब व्यक्तित्व विश्व के मंगल में विलुप्त हो जाता है। प्रवृत्ति के त्याग, इच्छा के विसर्जन—और अहंकार के नाश से व्यक्तित्व का लोप हो जाता है। जब हम प्रकृति के इस बृहत् उद्देश्य से अवगत हो जाते हैं, तब हम उसे अपनी सहचरी समझने लगते हैं। तब हमसे उसका जो सम्बन्ध स्थापित होता है, वह साहचर्य का होता है। इस साहचर्य में मनुष्य केवल आनन्द देखता है। अनंत आकाश-मंडल, उत्तुङ्ग पर्वतराशि, शस्य-श्यामला पृथ्वी और असीम समुद्र को देख कर वह विस्मय से अवश्य अभिभूत होता है परन्तु यह विस्मय ही तो प्रेम है। जितना ही प्रकृति से उसका संबन्ध घनिष्ट होता है, उतना ही अधिक उसका विस्मय बढ़ता है। आकाश-मंडल के नक्षत्र, लोकों का रहस्य, पृथ्वी का चिरनवीन सौंदर्य, समुद्र का अक्षय-भंडार सभी को वह देखता है, और उसमें एक ही नियम की विद्यमानता पाता है। जहाँ जीवन है, वहाँ गति है, और वहीं वैचित्र्य की अपरिमित लीला भी। जहाँ मृत्यु है, वहाँ स्थिति है और वहीं एकता का रहस्यमय दृश्य भी। सब एक दूसरे से आबद्ध हैं। समुद्र से मेघ जल लेता है, और मेघ से पृथ्वी जल पाती है। अनंत आकाश और पृथ्वी, दोनों को एक ही सूत्र में किसने बाँध दिया है? मनुष्य अपने को 'मैं' कहता है, और प्रकृति को कहता है कि यह मैं नहीं हूँ। किन्तु मनुष्य और प्रकृति, दोनों एक दूसरे के ही दो भाग हैं।

प्रकृति से तीसरा सम्बन्ध जब स्थापित होता है, तब प्रकृति ज्ञेय होती है, और मनुष्य ज्ञाता। व्यवहार से परिचय होता है और मनुष्य की कर्म-शक्ति विकसित होती है। इसी से नैतिक-धर्म का उद्भव होता है। भाव के आनन्द में संग्राम की कठिनता दूर होती है

और मनुष्य का योग पूर्ण होता है। इसी से प्रेममय धर्म की उत्पत्ति होती है। सबके अन्त में ज्ञान है। तब तक सत्य का ज्ञान नहीं होता, तबतक नीति और प्रेम में अपूर्णता ही रहती है। यही कारण है कि धर्म में कर्म, भक्ति और ज्ञान, इन तीनों का सम्मिलन होता है।

संसार में जितने भिन्न-भिन्न धार्मिक सम्प्रदाय प्रचलित हैं, उनके मूल में ऐसा कोई भी भाव नहीं वर्त्तमान है, जो मानव-जाति की एकता का बाधक है। जब कभी किसी देश में कोई धार्मिक आन्दोलन हुआ है, तब धर्म ने अपनी रसमूर्ति को ही प्रकट करने की चेष्टा की है। उसने सभी कठोर बन्धनों को तोड़कर मनुष्य-जातियों को एक करने का प्रयत्न किया है। भगवान् ईसामसीह ने प्रेम और भक्ति का जो प्रवाह बहा दिया था, वह यहूदी-धर्म के कठिन शास्त्र-बंधन में अवरुद्ध नहीं हुआ। वह स्तोत्र अभी तक जातियों कों स्वार्थ-शृङ्खला की तोड़कर मनुष्य को मिलाने की चेष्टा कर रहा है। भगवान बुद्ध की विश्व-मैत्री और करुणा ने समस्त एशिया को एक कर दिया था। नानक, कबीर और चैतन्य, इन सभी साधकों ने रस के प्रवाह से मनुष्य के कृत्रिम प्राचीरों को ढककर मनुष्यत्व का एकत्व स्थापित किया था। जब धर्म और साधना का यह रस सूख जाती है, तब उसमें फिर एक अटल कठोरता आ जाती है। उसमें प्राण का आवेग और जीवन का सौंदर्य नहीं रह जाता। जहाँ साधना का उत्कर्ष है, वहाँ गति निर्बाध होगी, भाव वैचित्र्य पूर्ण होगा और माधुर्य का नित्य विकास होगा।

एक बार किसी ने महात्मा कबीर से प्रश्न किया—ब्रह्म अरूप है या सरूप, वह एक है या अनेक? कबीर ने उत्तर दिया—उसको केवल अरूप कहना मिथ्या है, और उसको किसी विशेष रूप में समझना भी मिथ्या है। वह सभी रूपों में है। वह है, इसी से तो यह रूप है। यदि वह न रहे, तो परमाणु की भी स्थिति असम्भव है।

यह सर्वरूप है, अतएव किसी विशेष रूप में आबद्ध नहीं है। वह रूपों की समष्टि भी नहीं है। इस दृष्टि से वह अरूप भी है। इस प्रकार उनको अरूप या सरूप समझना भ्रम है। वह सब बंधनों से अतीत है। फिर रूप या अरूप का बंधन कैसे सम्भव है? इसी प्रकार संख्या का भी बन्धन है। वह न एक है और न अनेक। वह तो संख्या से अतीत है। अतएव एक एक देश में उसका एक एक रूप है। नारायण के रूप में वैचित्र्य का अन्त नहीं है। भिन्न-भिन्न साधक अपनी भिन्न-भिन्न साधनाओं में नारायण के भिन्न-भिन्न रूप और रस को प्राप्त करते हैं। वैचित्र्य ही प्रत्येक साधक को अमृत का दान करता है। यही बात रैदास ने भी कही है। उनका कथन है कि वैचित्र्य ही साधना का अमृत है। साधक का अमृत भी वैचित्र्य-पूर्ण है। उनके तीर्थों में वैचित्र्य है, क्योंकि जो स्वामी हैं, वे वैचित्र्य के ही अमृत में अवगाहन करते हैं। संस्कृति में यह धर्म-वैचित्र्य उसके सार्वभौमिक आदर्श का बाधक नहीं है। इससे उसकी पुष्टि ही होती है। जो लोग इसी वैचित्र्य को विरोध समझ कर पारस्परिक विद्वेष में पड़े रहते हैं, वे धर्म के पथ से बहुत दूर हैं। संस्कृति में विरोध के लिए स्थान नहीं है—सर्वत्र सम्मिलन का ही भाव विद्यमान है। हमारा विश्वास है कि यदि कभी संसार में वसुधैव कुटुम्बकम् के मूलमंत्र का प्रचार होगा, तो धर्म की इसी संस्कृति के ही द्वारा होगा।

इतिहास का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि भिन्न-भिन्न युगों में जो आदर्श प्रचलित होते हैं, उनमें कभी ज्ञान की प्रधानता होती है, कभी धर्म की और कभी कर्म की। युग का आदर्श महापुरुषों में ही व्यक्त होता है। ऐसे महापुरुष संसार के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में काम कर जो गौरव उपलब्ध करते हैं, उसी पर उनकी कीर्ति आश्रित रहती है। यह संभव नहीं है कि किसी एक ही दृष्टिकोण से उन सबके चरित्र के महात्म्य की समीक्षा हो सके।

प्राचीन युग और मध्य युग में धर्म के भीतर जो एक शक्ति थी, उसके कारण उन युगों में धर्म के आधार पर समस्त मानव जाति में नव-चेतना-शक्ति की जागृति हुई। वह शक्ति केवल एक ही क्षेत्र में प्रकट नहीं हुई। उसी के कारण जीवन का सर्वाङ्गीण विकास हुआ। उससे मानव-जाति को नवप्रेरणा-शक्ति मिली।

आधुनिक युग का आदर्श है मनुष्यत्व की विजय स्वाधीनता और देश-प्रेम। उसी के कारण साहित्य और कला दोनों में व्यक्तित्व की प्रधानता हो गई है। आधुनिक साहित्य में जो विचार-वैचित्र्य भाव-वैचित्र्य और चरित्र-वैचित्र्य है, उसका कारण व्यक्तित्व की यही प्रधानता है। अब कर्म-क्षेत्र भाव क्षेत्र से ऐसा सम्बन्ध हो गया है कि उनमें पार्थक्य नहीं किया जा सकता। यथार्थ जीवन से भिन्न कला का भाव-जगत् अब निर्मित नहीं हो सकता। अब राजनीति के साथ समाजनीति और समाजनीति के साथ विज्ञान का सम्मिलन हो गया है। किसी भी क्षेत्र में परिवर्तन होने से उनका प्रभाव जीवन के समस्त क्षेत्रों पर पड़ता है। यह सच है कि सभी के कार्यक्षेत्र एक से नहीं होते। भिन्न-भिन्न कार्यक्षेत्रों में काम कर लोग संसार को उन्नति के पथ पर ले जाते हैं। कुछ राजनीति के क्षेत्र में यश उपलब्ध करते हैं, कुछ विज्ञान के क्षेत्र में लब्ध-प्रतिष्ठित होते हैं और कुछ साहित्य और कला के क्षेत्र में महिमा प्राप्त करते हैं।

कुछ समय पहले वेल्स साहब ने विश्व के इतिहास का मन्थन कर छः महापुरुषों के रूप में छः रत्न ढूँढ़कर निकालने का प्रयत्न किया। उन्होंने अपने लिए जो कसौटी निश्चित की, वह यह थी कि किसकी कृतियों का कितना अधिक प्रभाव कितने अधिक लोगों पर कितने काल तक विद्यमान रहा। उसी से किसी महापुरुष के जीवन के सच्चे गौरव की यथार्थ परीक्षा हो सकती है। भगवान ईसामसीह ने अपने

जीवन-काल में कुछ थोड़े ही लोगों पर अपने उपदेशों का प्रभाव डाला। परन्तु उनके बाद उनके अनुयायियों ने उनके धर्म का जो प्रचार किया, उसके कारण अभी तक उनका यह धर्म एक शक्ति के रूप में विद्यमान है। उसी धर्म के प्रचार से साहित्य और कला की उन्नति के साथ मानवीय सभ्यता का भी विकास हुआ। संसार के दुर्गम स्थानों में भी उसी धर्म की दीप्ति के कारण ज्ञान का नव आलोक प्रज्वलित हुआ। इसी प्रकार भगवान युद्ध के उपदेशों का प्रभाव समस्त विश्व पर पड़ा। यह सच है कि धर्म की जो भावना जीवन में नवप्रेरणा देती है, वही जब किसी एक सम्प्रदाय में अवरुद्ध हो जाती है, तब वह अपनी गति की तीव्रता को खो बैठती है। उसमें एक संकीर्णता आ जाती है और तब उसमें ऐसे दोष उत्पन्न हो जाते हैं, जो उन्नति के पथ पर अवरोधक बन जाते हैं। सभी धर्मों के इतिहास से यह प्रकट होता है कि प्रारम्भ में उनके कारण जो एक नव-शक्ति उत्पन्न हुई, वह कुछ काल के बाद लुप्त सी हो गई। सभी धर्मों के संस्थापकों ने विश्व-प्रेम और विश्व-बन्धुत्व को स्थापित करने का प्रयास किया। परन्तु सभी के द्वारा अन्त में भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों की सृष्टि हुई, जिनके कारण प्रेम का स्थान विरोध ने लिया और बन्धुत्व के स्थान में शत्रुता का ही प्रचार हुआ। धर्म के नाम से जाने कितने युद्ध हुए, हत्याएँ हुई और अत्याचार तथा उत्पीड़न हुए।

भगवान बुद्ध ने संसार के दुःखों से द्रवित होकर उन्हें दूर करने के लिए कठोर तपस्या के द्वारा ज्ञान प्राप्त किया। उन्हें विश्वास था कि उनके पथ पर अग्रसर होकर संसार दुःखों से उन्मुक्त हो जायगा। अन्य धर्मों में आचार्यों ने भी सुनीति सद्धर्म के पथ पर निश्चित किए। फिर भी संसार से न दुःख दूर हुआ और न दुर्नीति। बात यह है कि मानव-जीवन में इतना वैचित्र्य है और इतनी अधिक गतिशीलता है कि उसके लिए कोई एक निश्चित मर्यादा स्थापित की नहीं जा सकती। इसीलिये नीति बनती है और भंग होती है, आदर्श निर्मित

होते हैं और विलुप्त होते हैं। भिन्न-भिन्न युगों में भिन्न-भिन्न आदर्शों और विचार-धाराओं का प्रचार होता रहता है। जो महापुरुष होते हैं, वे अपने समय में एक ऐसी विचार-धारा प्रवर्तित कर देते हैं, जिसके कारण जीवन प्रगतिशील हो जाता है। वेल्स साहब ने जिन छः महापुरुषों की खोज की, उनका महात्म्य इसी में है कि उन्होंने अपने-अपने युग में भाव, कर्म और ज्ञान के विकास के लिये मूल प्रेरणाएँ विकसित कर दीं।

भिन्न-भिन्न युगों में जिन भिन्न-भिन्न आदर्शों का प्रचार हुआ उनमें मानों भिन्न-भिन्न वर्णों का आधिपत्य संसार में रहा है। जाति-भेद एकमात्र भारतवर्ष में भले ही प्रचलित हो, पर गुण और कर्म की दृष्टि से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र तो सभी देशों में विद्यमान हैं। यदि ब्राह्मणों पर ज्ञान और धर्म के प्रचार का भार है तो क्षत्रियों पर देश-शासन और देश-रक्षा का उत्तरदायित्व है। वाणिज्य और व्यवसाय की उन्नति वैश्यों पर निर्भर है और मजदूरों तथा कृषकों के रूप में अन्य ऐसे ही कार्य करनेवाले श्रमजीवी शूद्र लोगों पर मानों सेवा का भार है। प्राचीन काल में ब्राह्मणों का आधिपत्य था, तब सर्वत्र धर्म की प्रधानता थी। धर्म का लक्ष्य ज्ञान था और ज्ञान का अन्त त्याग में होता था। ऐहिक कामनाओं में लिप्त रह कर भी लोग कामनाओं के दमन और पार्थिक विभूति के त्याग में गौरव देखते थे।

एक ओर धार्मिक विधि-विधानों का निर्माण हुआ और दूसरी ओर धार्मिक भावना से जन-समूह को प्रेरित कर उनका जातीय संगठन किया गया। जिस जाति में धार्मिक विश्वास की जितनी ही अधिक दृढ़ता थी उसमें उतनी ही अधिक शक्ति आई। फिर क्षत्रियों का प्रभुत्व हुआ। शौर्य के प्रदर्शन में जीवन की गरिमा देखी गई। निर्बलों के त्राण में ही शौर्य की सच्ची परीक्षा थी। लोगों को यह दृढ़

विश्वास था कि जहाँ धर्म है, जहाँ नीति है, जहाँ सत्य है वहीं सच्ची विजय प्राप्त होगी। इसके बाद, आधुनिक युग के आरम्भ में, व्यवसाय-वृद्धि की कामना से जो साम्राज्य स्थापित हुए उनमें वैश्यों की प्रधानता हुई। अर्थ ही राजनीति का मुख्य लक्ष्य हो गया। शौर्य के युग में जो उदारता थी वह लुप्त हो गई। निश्छल व्यवहार, निष्कपट नीति, त्याग और साहस सभी का लोप हो गया। अर्थ-वृद्धि के लिए उद्योग किये जाने लगे और कूटनीति की महिमा बढ़ी। विज्ञान भी अर्थ का क्रीत दास हो गया। तब एक जाति अन्य जाति का आर्थिक शोषण करने लगी। मुसलमानों के शासन-काल में अपनी राजनैतिक स्वतन्त्रता खोकर भी जो भारत धन-धान्य से पूर्ण था वह थोड़े ही दिनों में सभी प्रकार से दरिद्र और हीन हो गया। अब कुछ समय से मजदूरों अथवा श्रमजीवी शूद्रों का प्रभुत्व होने लगा है। अध्यापक पूर्णसिंह जी ने लिखा है—याद रखिए, बिना शूद्रपूजा के किंवा कृष्ण और मूर्ति-पूजा शालग्राम की पूजा होना सम्भव नहीं है। सच तो यह है कि सारे धर्म-कर्म ब्राह्मणत्व के छिछोरेपन से दरिद्रता को प्राप्त हो रहे हैं। यही कारण है जो आज हम जातीय दरिद्रता से पीड़ित हैं। उन्हीं का कथन है कि 'अब पद्मासन निकम्मे सिद्ध हो चुके हैं। अब वही आसन ईश्वर-प्राप्ति करा सकते हैं जिनसे जोतने, बोने, काटने और मजदूरों का काम लिया जाता है। नया साहित्य अब मजदूरों के हृदय से निकलेगा। मजदूरों के कण्ठ से वह नई कविता निकलेगी जो आजीवन आनन्द के साथ खेत की मेड़ों का, कपड़े के तागों का, जूते के टाँकों का, पत्थर की नसों का भेद-भाव दूर करेगी।'

●

भारतीय संस्कृति और साहित्य में मानवतावाद

मनुष्य मात्र का यह स्वभाव है कि वह अपने ज्ञान के रूप को परिमित नहीं देखना चाहता। जब वह देखता है कि उसकी बुद्धि काम नहीं देती; तब वह कल्पना का आश्रय लेता है। इस प्रकार काव्य की सृष्टि होती है। बाह्य-जगत् मनुष्यों के अन्तर्जगत में प्रविष्ट होकर एक दूसरा ही रूप धारण कर लेता है। जड़ के साथ चेतना का सम्मिलन होता है। जो बुद्धि का अवलंबन करते हैं, उनके लिए सूर्योदय एक साधारण घटना है, हिमालय एक पर्वत है, और मंदाकिनी एक नदी है। परन्तु कवि-कल्पना के द्वारा सूर्योदय में उषा देवी का दर्शन करते हैं, हिमालय में भगवान शिव का विराट् रूप देखते हैं, और मंदाकिनी में मातृमूर्त्ति देखकर गद्गद हो जाते हैं। अंगरेजी के प्रसिद्ध लेखक मेकाले की राय है कि ज्यों-ज्यों सभ्यता की वृद्धि होती है त्यों-त्यों कवित्व का ह्रास होता है। उनके इस कथन का अभिप्राय यही है कि ज्यों-ज्यों मनुष्यों में प्राकृतिक भाव नष्ट होता जाता है और कृत्रिमता आती है; त्यों-त्यों वे प्रकृति का संसर्ग छोड़कर संसार में प्रवेश करते जाते हैं, और उनका जीवन-रस सूखता जाता है। जीवन के प्रभात-काल में किसको यह जगत् सुन्दर नहीं मालूम होता? उस समय हम पवन से क्रीड़ा करते हैं; फूलों से मैत्री रखते हैं; और पृथ्वी की गोद में निश्चिन्त विश्राम करते हैं। उदीयमान सूर्य की प्रभा के समान हमारा जीवन निर्मल सौम्य और मधुर रहता है। परन्तु जीवन के मध्याह्न-काल में हमारी दृष्टि में प्रकृति का सौंदर्य नष्ट हो जाता है। संसार के अनंत कार्यों में लगकर हम केवल विश्व के विषम संताप का ही अनुभव करते हैं। सब कुछ वही रहते हैं, हमीं दूसरे हो जाते हैं। पहले हम वर्षा-काल में कीचड़ का कुछ भी विचार न कर आकाश

के नीचे पृथ्वी के वक्षःस्थल पर; विहार करते थे। जब जल के छोटे-छोटे स्रोत कल-कल करते; हँसते, नाचते, थिरकते और बहते जाते थे तब हम भी उन्हीं के साथ खेलते, कूदते और दौड़ते थे। परन्तु सभ्य होने पर हमें वर्षा में कीचड़ और गंदलेपन का दृश्य दिखाई देता है और हम अपने संसार को नहीं भूलते। वाल्मीकि और तुलसीदास के वर्षा वर्णन में हम यह बात स्पष्ट देख सकते हैं। दोनों विख्यात कवि हैं। दोनों ने एक ही विषय का वर्णन किया है। परन्तु जहाँ वाल्मीकि के वर्णन में हम प्रकृति का यथार्थ रूप देखते हैं; वहाँ तुलसीदास के वर्णन में संसार की कुटिलता का परिचय पाते हैं। इसका कारण यही है कि वाल्मीकि ने तपोवन में कविता लिखी थी; और तुलसीदास ने काशी अथवा अन्य किसी नगर में।

साहित्यज्ञों ने प्रधान लक्षणों के अनुसार साहित्य के युग को तीन कालों में विभक्त किया है; प्राचीन काल, मध्यकाल और नव-काल। प्राचीन काल में कृषि वाह्य-जगत् का अन्तर्जगत् में मिलाकर एक अभिनव-जगत् की सृष्टि करते हैं; जहाँ देवताओं और मनुष्यों का सम्मिलन होता है। उस समय अंतर्जगत् और वहिर्जगत् में भेद नहीं रहता। पृथ्वी मध्य-पूर्ण हो जाती है। तब हमें जान लेना चाहिए कि हम वाल्मीकि, व्यास और होमर के सत्य-युग में पहुँच गए हैं।

वाल्मीकि, व्यास और होमर के काव्य अलौकिक हैं। उनकी कृतियों से यह स्पष्ट प्रकट होता है कि वे दिव्य-शक्ति-सम्पन्न थे। अतएव यदि मनुष्य उनके जीवन में भी अलौकिकता देखे; तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? कहा जाता है कि वाल्मीकि पहले अत्यंत क्रूर और नृशंस थे। पीछे राम का नाम लेकर वह तपस्वी हो गए। जिसके काव्य में करुण-रस का अमूर्त स्रोत बह गया है; उसकी क्रूरता भी देखने योग्य रही होगी। परन्तु सच बात तो यह है कि रामायण के पाठ से भक्ति का उन्मेष होता है और उसके पाषाण हृदय भी द्रवित

हो जाता है; इसी तथ्य को इस किंवदंती में बतलाने की चेष्टा की गई है। वाल्मीकि के विषय में यह भी प्रसिद्ध है कि उन्होंने क्रौंच-पक्षी के वध से व्यथित होकर श्लोक की रचना की थी। ऐसी घटनाएँ असाधारण होने पर भी असंभव नहीं हैं। तो भी ऐसा प्रतीत होता है कि ये किंवदंतियाँ कवियों की कृतियों पर सर्वसाधारण की आलोचनाएँ हैं। कविता की उत्पत्ति कैसे होती है; यह इस घटना के द्वारा बतलाया गया है। इस मर्त्य-लोक में जो जीवन और मरण की लीला हो रही है, मनुष्यों के हास्य में भी जो करुण वेदना की ध्वनि उठ रही है; क्षणिक संयोग के बाद अत्यंत वियोग की जो दारुण निशा आती है; उसी से मर्माहत् होकर कवि के हृदय से सहसा उद्‌गार निकल पड़ता है। वही कविता है। जिस कविता में विश्व-वेदना का स्वर नहीं; वह कविता माधुर्य से हीन है।

व्यासदेव ने हिन्दू-समाज को धर्म और नीति की शिक्षा दी है। उनके महाभारत में हिंदू-सदाचार की सृष्टि हुई है। इसीलिए उसको पंचम वेद कहते हैं। परंतु धर्म और ज्ञान की सूक्ष्म विवेचना करने वाले व्यास जी का जन्म-वृत्तांत ऐसा नहीं है कि उसे प्रकट करने के लिए लोग लालायित हों। क्या उनके जीवन से यह सिद्ध नहीं होता कि जन्म किसी भी मनुष्य का भविष्य निश्चित नहीं कर देता। अच्छे या बुरे कुल में जन्म लेना दैव के अधीन है, पर पौरुष तो मनुष्यों के ही अधीन है। होमर अंधा था। होमर शब्द का अर्थ ही अंधा है। उसी प्रकार हमारे सूरदास भी अंधे थे। जो जगत् के बाह्य रूप की अवहेलना करके अंतर्जगत् की खोज करता है; उसके लिए चर्म-चक्षु सर्वथा व्यर्थ है। आँखों से तो हम पृथ्वी को ही देखते हैं पर होमर ने नेत्रहीन होकर पृथ्वी पर स्वर्ग का दर्शन पाया।

रामायण में रामचंद्र और सीता का ही चरित्र प्रधान है। अन्य चरित्रों की अवतारणा इन्हीं दो चरित्रों को विशद करने के लिए हुई

है। रामचन्द्र पुरुषोत्तम हैं। वह लोक-मर्यादा के संरक्षक हैं, सत्य-व्रत हैं, शूर हैं। उनमें देवदुर्लभ गुण हैं। परन्तु यदि राम में सिर्फ ये ही गुण रहते, तो कदाचित् आज मनुष्यों के हृदय-मंदिर में उनका यह स्थान न होता। उनकी चरित्र की विशालता और भव्यता देखकर लोग विस्मय विमुग्ध अवश्य हो जाते, पर उन्हें अपनाते नहीं। आज रामचन्द्र को ईश्वर का पद प्राप्त है। उनका नाम मात्र स्मरण करके नीच मनुष्य भी भवसागर के पार हो जाता है। मनुष्यों की यह भक्ति-भावना उनके अलौलिक चरित्र के कारण नहीं हैं, किंतु उनके लौकिक चरित्र के कारण है। उनकी विशाल महिमा से आतंक उत्पन्न हो सकता है, प्रेम की उत्पत्ति नहीं हो सकती। रामचन्द्र ईश्वर थे, पर आए थे वह मनुष्य के ही रूप में उनमें मनुष्योचित गुण थे। वह पुत्र थे, भ्राता थे, स्वामी थे, उन्होंने मनुष्यों के सुख-दुःख और आशा-निराशा का अनुभव किया था। जो राजराजेश्वर हैं, वे दरिद्रों की कुटी का-अनुभव नहीं कर सकते। परन्तु रामचन्द्र ने दारिद्र्य-व्रत भी धारण किया था। राजसिंहासन के नीचे उतर कर दरिद्रता का आलिंगन किया था, वल्कल-वस्त्र पहन कर जंगल-जंगल घूमे थे। तभी तो अधर्मों को उनके पास जाने का साहस होता है। वाल्मीकि जी ने रामचन्द्र जी की ईश्वरता पर जोर नहीं दिया है, उन्हें मनुष्य के रूप में लाकर मनुष्यों के लिए उनका चरित्र सुगम कर दिया है। सीता जी के चरित्र चित्रण में तो उन्हें बड़ी सफलता मिली है। ऐसा दिव्य-चरित्र किसी अन्य कवि ने अंकित नहीं किया है। यही कारण है कि हजारों वर्ष बीत गए; तो भी वाल्मीकि का मधुर गान भारतीय नर-नारियों के कानों में आज भी ध्वनित हो रहा है। प्राचीन अयोध्या का ध्वंस हो गया, किंतु हिंदू-समाज के हृदय में अयोध्या आज भी प्रतिष्ठित है। संसार में हिंदू-जाति का जब तक अस्तित्व रहेगा; तब तक उसके हृदय से रामायण का प्रभाव दूर न हो सकेगा।

योरप में प्लेटो ने एक आदर्श राष्ट्र की कल्पना की थी। उसमें उसने कवियों और नाटककारों को उच्च स्थान नहीं दिया था। प्लेटो की यह धारणा थी कि कवियों का जो वर्णनीय विषय है; उससे केवल प्रवृत्तियों की उत्तेजना ही बढ़ती है; जिससे मनुष्य का संयम नष्ट हो जाता है। प्लेटो के मतानुसार वही साहित्य श्रेष्ठ है; जो मनुष्य को वस्तु-जगत् से आदर्श की ओर आकृष्ट करे। परन्तु वह आदर्श-जगत् है कहाँ? मध्य-युग में वह आदर्श ऐहिक-जगत् में नहीं, पारलौकिक जगत् में था। पाप-ग्रस्त और सुख-दुःख से परिपूर्ण होने के कारण मनुष्य-जीवन किसी भी दृष्टि में स्तुत्य नहीं था। अतएव तत्कालीन साहित्य का ध्येय यही था कि मनुष्य-समाज में पारलौकिक आदर्शों का प्रचार किया जाय। मनुष्यों की जो प्रवृत्तियाँ उन्हें पार्थिव-स्नेह की ओर खींचती थी; वे हेय समझी जाती थीं और उनका ध्वंस करने में जीवन की सार्थकता थी। कठोर तपश्चर्या और संयम के द्वारा मनुष्यों की स्वाभाविक प्रवृत्तियों का दमन किया जा सकता है; परन्तु प्रवृत्तियों का नाश होने से मनुष्य स्वयं अस्वाभाविक हो जाता है। मनुष्य ने प्राकृति की मायाविनी कहकर उसका माया-जाल तोड़ना चाहा; पर उससे उसके ही अंग क्षत विक्षत हो गए समाज उच्छृङ्खल हो गया। अलक्षित जगत् की कामना में पड़ कर जब मनुष्य ने ऐहिक-जगत् के प्रति अपने कर्तव्यों की उपेक्षा की; तब समाज में सदाचार और मर्यादा की रक्षा कौन करता? समाज क्रियाहीन हो गया, और अकर्मण्यता के जितने दुष्परिणाम हो सकते है; वे प्रकट होने लगे। दांते के समय में महात्मा ईसा के निवृत-मार्ग ने समाज की जो दशा कर दी थी, वही दशा मिल्टन के समय में प्युरीटन की शिक्षाओं का अनुसरण करने से इंग्लैंड की हुई। भारतवर्ष में सन्यास-धर्म ने भी उसी तरह की अशांति उत्पन्न कर दी। अब प्रश्न यह था कि मनुष्यों के ऐहिक-जीवन के साथ उनके आध्यात्मिक जीवन का सामंजस्य कैसे किया जाए?

भारत में मध्ययुग के प्रवर्तक महाप्रभु वल्लभाचार्य के द्वारा-हिन्दी साहित्य में उस आन्दोलन का जन्म हुआ जिसके प्रतिपादक कबीर और दादूदयाल थे। इस धार्मिक आन्दोलन की विशेषता यह थी कि प्रवृत्ति का ध्वंस न करके उसकी अभिव्यक्ति को आध्यात्मिकता की ओर ले जाना चाहिये। स्वभाव की उपेक्षा करके किसी अचिंत्य मानवीय आदर्श के अनुसंधान में व्यस्त रहने से उसका विपरीत ही प्रतिफलित होता है। विषय को छोड़कर विषयी को पकड़ने की चेष्टा करना, मनुष्य को छोड़कर मनुष्यत्व के पीछे दौड़ना और इन्द्रिय को छोड़कर रस-ग्रहण करने जाना विडम्बना मात्र है। इस आन्दोलन का परिणाम यह हुआ कि भारत के धर्माचार्यों ने जिन पारलौकिक बन्धनों से समाज को बाँध रखा था वे शिथिल हो गए! लोग अशांति का अनुभव करने लगे। उनकी प्रवृत्तियाँ जाग्रत हो गईं। उन प्रवृत्तियों को केन्द्रीभूत करने के लिए कबीर और दादूदयाल की आध्यात्मिक भावनाएँ असमर्थ थीं। जिस रूप की महत्ता उन्होंने अपने हृदय में देखी थी, वह साधारण लोगों के लिए अलभ्य थी, और जिस सौंदर्य का आभास उन्होंने दिया था, उनकी प्राप्ति के लिए व्याकुलता होनी चाहिए। अतः यह अवस्था उपस्थित होने पर कवियों ने मानव-जीवन में सौंदर्य उपलब्ध करने का प्रयत्न किया। तब उनका लक्ष्य परमब्रह्म के निर्गुण रूप से हटकर सगुण रूप में केन्द्रीभूत हो गया। राम और कृष्ण में उन्होंने सौंदर्य की पूर्णावस्था देखी। राम और कृष्ण इष्टदेव अवश्य थे, परन्तु उनमें मानव जीवन का पुनीत सम्बन्ध स्थापित हो गया। इसके बाद कवियों ने समस्त मानवीय भावनाओं को इष्टदेवों पर आरोपित करना आरम्भ किया। इसका फल यह हुआ कि हिंदी के परवर्ती कवियों ने देवत्व का स्थान मनुष्यत्व को दे डाला। सभी नायक कृष्ण हो गए और सभी नायिकाएँ राधा।

योरप में मध्ययुग की यह विशेषता दाँते के परिस्फुटन काल में हुई। दांते के प्रसिद्ध महाकाव्य का नाम है—'डिवाइन-कामेडी'।

उसके तीन खंड है। पहले खण्ड में नरक की कथा है। दूसरे में पाप-क्षय-भूमि का वर्णन है। तीसरे में स्वर्ग की कथा है। दांते ने अपने काव्य को कामेडी कहा है। कामेडी शब्द का मूल अर्थ है—ग्राम्य-गीत। दांते का महाकाव्य ग्राम्य-भाषा में—इटली की साधारण प्रचलित भाषा में लिखा गया है। यदि हम कामेडी का अर्थ सुखांत काव्य करें, तो भी यह नाम सार्थक होगा; क्योंकि दांते का काव्य सुखांत ही है—पहले अध्याय में नरक, फिर पाप-भोग एवं पाप-क्षय और अन्त में स्वर्ग का वर्णन। दांते का विश्वास था कि कोई मनुष्य कितना ही पापी क्यों न हो; अन्त में उसका उद्धार अवश्य होगा। विधाता ने मनुष्य के लिए साध्य स्थिर रखे हैं। एक तो इसी जीवन का भाग्य आनन्द जिसके लिए मनुष्य अपनी क्षमता का प्रयोग करता है और पृथ्वी पर आनन्दधाम की सृष्टि करता है। दूसरा है अनन्त जीवन का अनन्त सुख। यह बिना भगवद्दर्शन के प्राप्य नहीं। भगवान् की पूर्ण कृपा से ही मनुष्य इस दुर्लभ अवस्था को पा सकता है। इसी तत्त्व को समझने के लिए दांते ने अपने महाकाव्य की रचना की। दांते ईसाई-धर्म का अनुयायी था। कर्म के द्वारा कर्मफल का भोग होता है; यह उसका विश्वास नहीं था। इसीलिये उसने नरक का वर्णन किया। नरक-वासियों को पाप का ज्ञान नही रहता; इसीलिए उनमें पश्चात्ताप का भाव भी उदित नहीं होता। उस समय उत्कटयंत्रणा-दायक अवस्था में जीवात्मा का अवस्थान रहता है। नरक में जीवात्मा का अहंकार दूर नहीं होता। जब उसका अहंकार नष्ट हो जाता है; तब वह पाप-क्षय-भूमि में प्रविष्ठ होता है। उसी का नाम है—परगेटरी। यह प्रायश्चित्त, पश्चात्ताप और अनुशोचना का स्थान है। यहाँ जीवात्मा का कर्मजन्य मालिन्य दूर होता है और तब वह स्वर्गारोहण करता है। वहाँ भगवान का सामीप्य प्राप्त कर वह मुक्त हो जाता है। ईसाई धर्म में सायुज्य और सारूप्य मुक्ति नहीं है। अपने काव्य का नायक स्वयं दांते है।

आधुनिक साहित्य में पाश्चात्य आदर्शों का विशेष प्रचार अवश्य हुआ। उनमें भी मानवतावाद का प्राधान्य है। उसका यथार्थ रूप हम गेटी की रचनाओं में पाते हैं, गेटी को यह दृढ़ विश्वास था कि संसार के जितने आदर्श हैं, सभी में सजीवता है। कोई भी आदर्श मृत नहीं हो सकता। गेटी सभी आदर्शों के अन्तर्गत् भाव में प्रवेश कर सकता था। ईसाई-धर्म के तत्व को समझकर वह बुद्ध-देव की शिक्षाओं को हृदयगत कर लेता था। यति-धर्म की महत्ता जानकर यह सांसारिक वैभव की विशालता देख सकता था। कला पर मुग्ध होकर भी वह विज्ञान की ओर आकृष्ट होता था। वह अपने देश पर पूरा प्रेम रखकर भी जर्मनी को पद-दलित करने वाले नेपोलियन का विरोधी नहीं था। जिस संसार से हम परिचित हैं; उसी पर उसने काव्य-रचना की है। परन्तु इससे हमें यह न समझो लेना चाहिए कि उसकी कृति में यथार्थ चित्रण (Realism) ही है। उसके वर्णनीय-विषय उसके भावों में ऐसे रंग गए हैं कि उन्होंने विश्वव्यापी रूप धारण कर लिया है।

गेटी ने अपने जीवन का अन्तिम काल विदेशी-साहित्य की समालोचना और 'फास्ट' की रचना में व्यतीत किया। एक विद्वान का कथन है कि फास्ट के दो खंड हैं। उन दोनों भागों की रचनाशैली एक होने पर भी, उनमें विभिन्नता है। पहले खंड में मनुष्य स्वर्गलोक से मर्त्यलोक होकर नगर में प्रवेश करता है; और दूसरे में वह नरक से स्वर्ग को लौटता है। इन्हीं दोनों के बीच फास्ट की उन्मुक्ति है। पहले भाग का आरम्भ धर्म में होता है। फिर आध्यात्म-भाव में परिणत होकर उसका अन्त कर्तव्य-निष्ठा में हो जाता है। दूसरे भाग में पहले कर्तव्य निष्ठा का उदय होता है; फिर सौन्दर्य-बोध आता है; और अन्त में धर्म प्रकट होता है। पहले में ज्ञान और प्रेम का संघर्षण है और दूसरे में कर्म और सौन्दर्य का। इस प्रकार फास्ट में मानव-जीवन का विकास दिखलाया गया है। फास्ट की रचना हो जाने पर गेटी ने समझ

लिया कि उसके जीवन का उद्देश्य पूरा हो गया। सन् १८३२ में उसकी मृत्यु हो गई।

वर्तमान साहित्य के संशय और विरोध के भाव कितने फैल गए हैं; यह बात हमें टेनीसन की कृति से भली-भाँति सूचित होती है। टेनीसन ने विज्ञान-कथित शक्ति के क्रीड़ा-क्षेत्र; विश्व-जगत् के साथ जगदीश्वर के प्रेम की घोषणा की है। पर यह केवल कथन-मात्र है। यथार्थ बात यही है कि उसमें प्राचीन विश्वास के दुर्ग को नवीन विज्ञान से ढा देना चाहा था। टेनीसन के समकालीन ब्राउनिंग की कृति में वर्त्तमान युग ने संपूर्णता प्राप्त की है। जिस प्रकार दर्शन-शास्त्र में वैचित्र्य और विरोध को एक बृहत् आदर्श में देखने की चेष्टा की गई है; उसी प्रकार ब्राउनिंग ने ईसाई-धर्म के द्वारा विज्ञान को आध्यात्मिक दृष्टि से देखा है। उसने काव्य में एक नवीन-तत्त्व प्रकट किया है। मानव-जीवन में जो विभिन्नता और क्षुद्रता है; जो पाप और मलीनता है; उसे स्वीकार कर इस कवि ने मनुष्य-जीवन को ईश्वर के आनन्द और प्रेम की अभिव्यक्ति के रूप में दिखलाया है। इस प्रकार उसमें दुःख, मृत्यु आदि आनन्द के विरोधीभावों का अतिक्रमण कर मनुष्य-जीवन में उस प्रेम को प्रत्यक्ष कराया है, जिससे सब विरोधीभाव दूर हो जाते हैं।

ब्राउनिंग ने ईसाई-धर्म के त्रिमूर्तिवाद और पाप तत्त्व को नहीं माना। उसने ईसाई-धर्म की असल बात को स्वीकार किया है वह यह कि स्वयं ईश्वर मनुष्य का जन्म लेकर मानव-जीवन के समस्त दुःख और वेदनाओं को स्वीकार करती है। ईश्वर भी एक स्थान में मनुष्य है। वह दूर नहीं है। वह स्वर्ग में नहीं है। वह इसी मर्त्यलोक के सुख-दुख और उत्थान-पतन में है। यही बात ब्राउनिंग ने ईसाई-धर्म से ग्रहण की। समस्त मानव-जीवन को ईश्वर से परिपूर्ण मानकर देखने के धर्म को छोड़कर, ग्रहण करने योग्य दूसरा कौन धर्म है? जीवन के सुख-दुःख, हानि-लाभ, संयोग-वियोग और आशा-निराशा में इसी की

लीला है। इसी छंद से यह आनन्द और प्रेम को पूर्ण करती है। द्वैत में इसी अद्वैत-वाद का अनुभव कर ब्राउनिंग ने उसे प्रकट किया। यही कारण है कि टेनीसन के समान ब्राउनिंग की कृति में कहीं भी संशय का स्वर नहीं है, और अन्धकार में टटोलना जैसा है। उसमें पूर्ण मानव-जीवन है। वह चाहे जैसा हो; पर है आनन्द से उज्ज्वल। इसीलिए विज्ञान के सब तत्त्वों को स्वीकार कर ब्राउनिंग कभी उद्विग्न नहीं हुआ। यह अनुभव करता था कि चाहें हम कितने ही भिन्न क्यों न हों; और कितनी ही भिन्न अवस्थाओं में क्यों न रहें; सब एक ही है; और वह एकता प्रेम ही की है। जो वैचित्र्य है; वह प्रेम के लिए ही। कहना न होगा कि ब्राउनिंग का यह तत्त्व हमारा वैष्णव तत्त्व ही है।

आधुनिक कवियों में रवीन्द्रनाथ की कृति में भी यही वैष्णव तत्त्व पाया जाता है। स्वर्ग के सुख-दुःख और पाप-पुण्य से हीन आनन्द की अपेक्षा पृथ्वी का यह सुख-दुःख-पूर्ण जीवन ही उन्हें इष्ट है। यह बात उन्होंने अनेक स्थानों में प्रकट की है। रवीन्द्रनाथ और ब्राउनिंग की रचनाओं में कितने ही स्थानों में, विभिन्नता रहने पर भी; आधुनिक युग के आदर्श को दोनों ने सम्पूर्ण रूप से प्रकाशित किया है। तात्त्विक दृष्टि से इनमें आश्चर्यजनक सादृश्य है।

यह सादृश्य मानव-सभ्यता की एकता सूचित करता है। रवीन्द्रनाथ के 'स्वर्ग से विदा' नामक काव्य से ब्राउनिंग के 'रैफ़न' की तुलना करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है। 'स्वर्ग से विदा' की कथा यह है कि एक व्यक्ति स्वर्ग में सैकड़ों वर्षों तक आनन्द से रहा। जब उसका पुण्य क्षीण हुआ; तब उसे पृथ्वी पर फिर लौटना पड़ा। स्वर्ग से विदा होते समय उसे बड़ी वेदना हुई। उसे यह आशा न थी कि वह स्वर्ग में भी अश्रु-रेखा देखेगा। स्वर्ग में केवल आनन्द है। वहाँ दुःख कहाँ? तब वह कल्पना करने लगा कि यदि स्वर्ग पर दुःख की छाया पड़ जाय, तो उसका सौंदर्य कितना परिवर्तित हो जाएगा? स्वर्ग की

निर्मल ज्योति में मलीनता आ जायगी। वायु से मर्मर-ध्वनि उठने लगेगी। नदी से करुण-स्वर उत्थित होगा। उज्ज्वल दिन के बाद संध्या की म्रियमाण लालिमा प्रकट होगी। नक्षत्रों की निस्तब्धता में वैराग्य का संगीत सुनाई पड़ेगा। किन्तु स्वर्ग में यह होने का नहीं। यह वैपरीत्य पृथ्वी पर ही हैं। आनन्द को दुःख के साथ मिला देने से पृथ्वी के सौन्दर्य में एक दूसरा ही लावण्य आ गया है। अप्सरा के प्रेम में न वेदना है; न अतृप्ति। मिलन की आकांक्षा और विच्छेद का दुःख भी नहीं है। परंतु मर्त्यलोक में मिलन और विच्छेद के द्वारा प्रेमपूर्ण हो गया है। कितने ही भावों से उस प्रेम की उपलब्धि होती है। वैष्णव मानते हैं कि वात्सल्य, दास्य, सख्य, माधुर्य आदि भावों से भगवान् मनुष्यों के भीतर अपनी लीला प्रकट करते हैं। कभी वह पुत्र है, और हम माता-पिता। कभी वह बंधु हैं, और हम सखा। कभी वह स्वामी हैं और हम उसके दास-दासी, कभी वह प्रेमी है; और हम उसके प्रणय-माधुर्य में अपना सर्वस्व देकर कृतार्थ होने वाले। माता के पुत्र-वात्सल्य में कितनी करुणा है! स्वर्ग में ऐसा चित्र देखने को कहाँ मिलता है।

ब्राउनिंग के 'रैफल' की भी यही कथा है। स्वर्ग लोक से एक मनुष्य पृथ्वी पर आकर दूसरे मनुष्यों को स्वर्ग की कथा सुना रहा है। वह कहता है;वहाँ न तो अभाव है; न वृद्धि। वहाँ कोई परिवर्तन नहीं होता। न आरंभ है; न अन्त। भले-बुरे की वहाँ तुलना नहीं हो सकती। सब सुखी हैं। दुःखी कोई नहीं है। सब संपूर्ण है। ऐसी संपूर्णता में रहने से कुछ समय के बाद न जाने कैसे मुझे उससे पीड़ा होने लगी। मेरे मन में आशा-निराशा, प्रेम घृणा आदि द्वन्द्व भाव जाग्रत् हुए। मैं मर्त्य-लोक के जीवन के लिए व्याकुल हुआ। सबको एक ही रूप में देखने की इच्छा मेरी न रही। मैं भिन्नता देखने के लिए व्यग्र हुआ जब सबके भीतर संपूर्णता का अभाव रहता है, जब पूर्ण असीमता की शोभा कभी ऊँची और कभी नीची होकर आगे बढ़ती है, तब वैचित्र्य

के भीतर ऐक्य प्राप्त करने के लिए हृदय में आघात होता है। तभी तो आनंद होता है। मनुष्यों तुम्हें आशंका और भय है, वेदना और मृत्यु है। वही तुम्हारा जीवन है। किन्तु इससे क्या? क्या-क्या जीवन का उद्देश्य दृष्टि-पथ से अन्तर्हित हो जाता है? जब मेरे हृदय में इस प्रकार के विचार उठने लगे, तब मुझसे एक ने कहा—"रैफन, यहाँ अब तुम्हारे लिए स्थान नहीं है। तुम्हारे लिए अब पृथ्वी है।"

सभी विपरीत भाव प्रेम के द्वारा एक हो सकते हैं। प्रेम के लिए ही यह वैपरीत्य है। पृथ्वी के सभी विरोधी भावों को प्रेम की इस एकता से देखना, वर्तमान-युग की साधना का लक्ष्य है। व्यक्त-अव्यक्त, पूर्ण-अपूर्ण ससीम-असीम, सब एक दूसरे से संबद्ध है। यही आधुनिक शास्त्र प्रमाणित करना चाहता है। वर्तमान युग का यही एक विशेष आदर्श है, जो साहित्य में व्यक्त हो रहा है।

योरोप के साथ मिलने से पहले भारतवर्ष अतीतकाल में ही रहा करता था। अतीत में ही वह भविष्य का सुख-स्वप्न देखा करता था। परन्तु योरोप ने उसका सुख-स्वप्न भंग कर उसे अतीत से वर्तमान में ला दिया। उस समय वह हृत-सर्वस्व मनुष्य के समान किंकर्तव्यविमूढ़ हो गया। रवीन्द्र बाबू ने उसका अतीत धन खोज कर उसे समर्पण कर दिया है और उसे इस योग्य बना दिया है कि वह वर्तमान संसार में विचरण कर सके।

यदि हम रवीन्द्र की सर्वानुभूति पर दृष्टि रक्खें तो हम उनके जीवन और काव्य के रहस्य का उद्घाटन कर सकें। विश्व की, मानव-जीवन को सभी ओर से उपलब्ध करने की व्याकुलता ने ही रवीन्द्र के कवित्व को उत्साहित किया है। हम अपने जीवन द्वारा जिस जीवन को सम्पूर्ण रूप से नहीं पाते, दूर होने से जिसका परिचय मात्र पाते हैं, वह अन्तःकरण के तीव्र औत्सुक्य के प्रकाश में देदीप्यमान हो उठता है। कवि की व्याकुल कल्पना की रश्मिच्छटा से प्रदीप्त

जगत् के दृश्य को ही हम उनकी रचना में देखते हैं। विश्व-योग के अभाव से कवि में विश्व-बोध का भाव इतना तीव्र हो गया है कि वही उनके कवित्व-स्रोत में फूट पड़ा है। अभी तक हम सुप्त थे। पर एक दिन हमारी चिर काल की निद्रा भंग हुई, हम जाग पड़े। तब हमने अपने शयन-गृह की खिड़की से देखा कि जीवन की विस्तीर्ण लीलाभूमि में मनुष्य सभी दिशाओं में अपनी विचित्र शक्ति को आनंद में परिकीर्ण कर रहा है। तब विश्व-क्षेत्र में सम्मिलित होने के लिए हमारे प्राण व्याकुल हो गये। इस प्रकार अन्तःकरण में विश्व के लिए विरह-वेदना जाग्रत हो उठने पर हम अभिसारिक होकर बाहर जाना चाहते हैं, पर पथ पहचानते नहीं, इसीलिए भिन्न भिन्न पथों में भटकते फिरते हैं। इसी प्रकार भटकते-भटकते अन्त में हम जान लेते हैं कि हमारा ही पथ राज-पथ है। हम व्यर्थ दूसरे पथों के गोरखधन्धा में पड़े घूम रहे हैं। बस यही बात, यही विश्व की अभिसार-यात्रा हम रवीन्द्रनाथ के काव्य में देखते हैं। और यही अनुभूति का आवेश हम उनके जीवन में पाते हैं। जीवन की भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों में से होकर उन्होंने विश्व को पा लिया और तब वही एक तान उनकी हृत्तंत्री पर बजने लगी। उन्होंने सीमा में असीम का दर्शन कर लिया और अन्धकार में अनन्त-ज्योति की छवि देख ली।

रवीन्द्रनाथ के जीवन के सम्बन्ध में हमें यह बात सदैव स्मरण रखनी चाहिए कि उन्होंने अपने स्वभाव के अन्तर्हित पथ का ही अवलम्बन किया है। उनके इसी स्वभाव में उनकी कवि-प्रकृति, तपस्वी-प्रकृति, भोगी-प्रकृति और त्यागी-प्रकृति ने विकास पाया है। किसी प्रवृत्ति के प्रबल होने पर जब प्रकृति एक ही ओर खिंचती है तब उसके विरुद्ध भीतर से एक धक्का लगता है जो स्वभाव को दूसरी ओर कर देता है। इस तरह नदी के समान उनके जीवन-स्रोत की गति टेढ़ी हो रही है और एक स्थान से दूसरे स्थान और एक रस से दूसरे रस में बहता हुआ अन्त में वह धर्म में जाकर एकरूपता प्राप्त

कर लेता है। वहाँ सभी प्रवृत्तियों का विरोध भाव हट जाता है और उनमें सामंजस्य स्थापित हो जाता है। इस प्रकार रवीन्द्रनाथ ने अपने भीतर ही भारतवर्ष के चिरन्तन समन्वयादर्श का अनुभव कर लिया।

योरप ने उन्हें नोबेल-पुरस्कार से सम्मानित किया और भारत के सन्देश की श्रेष्ठता को स्वीकार कर लिया। पाश्चात्य जगत् में जिस वस्तु का अभाव था, जिसके न रहने से समृद्धिशाली होने पर भी योरप का अन्तःकरण जर्जर हो उठा था, उसी अभाव को दूर करने का उपाय रवीन्द्रनाथ ने बतला दिया। पाश्चात्य जगत् ने रवीन्द्रनाथ के काव्यों में भारतीय-आत्मा का प्रत्यक्ष दर्शन कर लिया। एक ईसाई विद्वान् ने कहा था— आपकी कविता का पाठ कर हम इस संसार को दूसरे ही भाव से देखने लगे हैं, पहले हमने कभी संसार का ऐसा दर्शन नहीं किया था जैसा आज कर रहे हैं। एक दूसरे विद्वान् हालेण्ड साहब ने कहा था—पाश्चात्य देश अभी तक भारतवर्ष की अवज्ञा कर रहा था, यह पुरस्कार उसी पाप का प्रायश्चित है। कुछ लोगों का कथन है कि पूर्व और पश्चिम का कभी मिलन नहीं होगा। आपके द्वारा वह मिलन हो गया। यह मिलन किसी विशेष सम्प्रदाय के देव-मन्दिर में नहीं हुआ है, यह वहाँ हुआ है जहाँ ज्योतिर्मय परमात्मा का नित्य प्रकाश है। आध्यात्मिक राज्य में पूर्व और पश्चिम का मिलन हुआ है।

विश्व के इतिहास में भारत

संसार का इतिहास तीन कालों में विभक्त किया जाता है—प्राचीन काल, मध्ययुग और नवोत्थित-काल। पूर्वैतिहासिक काल में मानव-जाति की कैसी अवस्था थी, यह पुरातत्त्व का विषय है। जब हम ऐतिहासिक काल का निरीक्षण करते हैं तब हम सभ्यता का भव्य रूप ही देखते हैं। प्राचीनकाल में भारत, चीन, मिस्र, ग्रीस और रोम उन्नतावस्था में थे। प्राचीन-काल में जो जातियाँ असभ्य समझी जाती थीं, उनका प्राबल्य मध्ययुग में हुआ। इस युग में मुसलमानों की विशेष श्री-वृद्धि हुई। उनका पतन होने पर आधुनिक योरप का आधिपत्य बढ़ा। इन तीनों युगों में तीन विभिन्न भावों की प्रधानता रही। प्राचीन युग में व्यक्तित्व की प्रधानता थी। मध्ययुग में धर्म ने राजनीति को आक्रान्त कर लिया। वर्तमान काल में व्यवसाय और राजनीति का घनिष्ट सम्बन्ध हो गया। इसी बात को हम इस तरह भी कह सकते हैं कि प्राचीन-युग में व्यक्ति, मध्ययुग में समाज और वर्तमान युग में राष्ट्र प्रबल हुए; पर हमें सदैव ध्यान में रखना चाहिये कि सभी काल में भिन्न-भिन्न आदर्शों में एक प्रकार का संघर्ष होता रहता है। आदर्शों के इस पारस्परिक संघर्ष से समाज का स्वरूप परिवर्त्तित होता रहता है। प्राचीन युग में व्यक्ति और समाज का जो संघर्ष था, वह मध्ययुग में भी विद्यमान् रहा। इसी प्रकार वर्तमान युग में राष्ट्रीयता के प्रधान होने पर व्यक्ति और समाज का संघर्ष लुप्त नहीं हुआ। अभी तक सभी देशों में व्यक्ति, समाज और राष्ट्र में संघर्ष हो रहा है।

प्राचीन युग में भारत, ग्रीस और रोम सभ्यता के केन्द्र थे। सभी सभ्यताओं में मनुष्यों का कोई न कोई आदर्श पाया जाता है। उसी

आदर्श पर उसका सामाजिक और राजनैतिक जीवन का संगठन होता है। । भारतवर्ष में प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा की सम्पूर्णता ही जीवन का एक-मात्र लक्ष्य था। इस आदर्श पर समाज का विभाग भी किया गया जिससे विभिन्न परिस्थितियों में व्यक्तियों की सम्पूर्णता के लिए भिन्न भिन्न व्यवस्थायें निश्चित कर दी गईं। भारतवासियों ने व्यक्ति को प्रधानता देकर उस पर राष्ट और समाज का अधिकार कम कर दिया। राष्ट्र अथवा समाज व्यक्ति का प्रतिबन्धक नहीं था, किन्तु उसके इष्ट साधन में सहायक था। राष्ट्र नियन्ता नहीं था, वह देश-रक्षा का उपाय-मात्र था। श्रम-विभाग के अनुसार राजा के हाथ में देश-रक्षा का भार सौंपा गया। परन्तु राजा पर समाज अवलम्बित नहीं था। समाज की जीवन-शक्ति राजसभा में नहीं थी, किन्तु व्यक्ति-समूह में थी। यही कारण है कि हिन्दू-साम्राज्य का विध्वंस हो जाने पर भी हिन्दू-समाज छिन्न-भिन्न नहीं हुआ और न उसकी चिरकालार्जित आदर्श-सम्पत्ति ही नष्ट हुई। प्राचीन भारत का वैभव उसकी पार्थिव क्षमता में नहीं था, यद्यपि उसकी यह क्षमता भी खूब बढ़ी चढ़ी थी। प्राचीन भारत का गौरव आज तक अक्षुण्ण है और वह है उसका आत्मिक विकास। उसके लिए आत्मा ही द्रष्टव्य, मन्तव्य और श्रोतव्य था। उसने दूसरे देशों में राजनैतिक प्रभुत्व स्थापित करने की चेष्टा कभी नहीं की। यही नहीं, किन्तु उसने दूसरों को भी अपने वृहत् समाज में मिला लिया।

भारतीय आदर्श का अन्तिम परिणाम यह हुआ कि देश की राजनैतिक शक्ति राजा में केन्द्रीभूत हो गई और प्रजा भक्ति के आवेश में राजनैतिक सत्ता से उदासीन हो गई। हिन्दू-राजाओं में स्वेच्छा-चारित का अभाव अवश्य था। इसका कारण यह नहीं कि प्रजा उनकी राजनैतिक शक्ति में हस्तक्षेप करती थी। बात यह थी कि राजा समाज से पृथक् नहीं था, वह उसका अंग था, और इसलिए वह लोक-मर्यादा के विरुद्ध नहीं चल सकता था। जब कभी किसी राजा ने

राजनीतिक के केन्द्र से बाहर आकर समाज पर आघात किया तभी उसका विरोध किया गया। भारतीय इतिहास में प्रजा-विद्रोह का एक भी ऐसा उदाहरण नहीं है जिसमें प्रजा ने राजा की राजनैतिक सत्ता को नष्ट करने का प्रयत्न किया हो। मुसलमानों के शासन-काल में भी हिन्दू-प्रजा अपनी अवस्था से सन्तुष्ट थी। वर्तमान युग में जो अशान्ति फैली है उसका कारण यह है कि राजनीति का आदर्श ही परिवर्त्तित हो गया है और वर्तमान युग के लिए अभी तक ऐसा आदर्श निश्चित नहीं हुआ है जो इस विश्व-व्यापी अशान्ति को दूर कर सके।

ग्रीस में राष्ट्रीय कर्म-क्षेत्र में ही समाज की प्रकृत जीवन-शक्ति थी। कहा गया है कि ग्रीस की सभ्यता का जन्म नगरों में हुआ था। अतएव ग्रीस का प्रत्येक नगर एक राष्ट्र हो गया था और इसी को पुष्ट करना प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का लक्ष्य था। ग्रीस में राष्ट्र के पृथक व्यक्तिगत स्वतंत्र जीवन नहीं था। आधुनिक योरप में अभी तक इसी आदर्श का किसी न किसी रूप में अनुसरण किया जाता है। इसी आदर्श ने व्यक्ति और राष्ट्र में विरोध उत्पन्न किया। देश की उन्नति के लिए यह आवश्यक है कि सभी लोग एक ही उद्देश्य से उसके लिए प्रयत्न करें। परन्तु उसके लिए व्यक्ति के आत्मिक विकास का बलिदान नहीं किया जा सकता। ग्रीस की अवनति का प्रधान कारण था उसकी नैतिक और आत्मिक उन्नति की असम्पूर्णता। ग्रीस की आध्यात्मिक उन्नति उसकी पार्थिव उन्नति की अपेक्षा ही नहीं रही। इसलिए जब व्यक्ति से राष्ट्र का सम्बन्ध घटने लगा तब ग्रीस के जातीय जीवन में शिथिलता आने लगी और अन्त में व्यक्ति-गत स्वातन्त्र्य के विकास से ग्रीस की सभ्यता का भी लोप हो गया।

रोमन ने ग्रीस के नागरिक राज्यों को नष्ट कर एक विशाल साम्राज्य का निर्माण किया। रोम की राजनैतिक सत्ता में जन-समूह का प्रभाव था। तो भी वहाँ व्यक्ति-विशेष की प्रभुता अक्षुण्ण रही। जब

रोम ने संसार के अधिकांश भाग को स्वायत्त कर लिया तब उसका पार्थिक वैभव खूब बढ़ गया। इस वैभव पर रोम के जन-समूह का भी अधिकार हो गया। समाज के एक क्षुद्रांश में जब सम्पत्ति केन्द्रीभूत हो जाती है तब उसका कितना विषमय फल होता है, यह रोम के इतिहास से सिद्ध है। रोम के सर्व-साधारण अपनी आर्थिक उन्नति और क्षमता के कारण मदोन्मत्त हो गये थे। उनकी पाशव-प्रवृत्ति और दुराचार का वर्णन पढ़ कर घृणा होने लगती है। यह सच है कि रोम ने प्रजासत्तात्मक राज्य को जन्म दिया। उसने विद्या और विज्ञान की भी उन्नति की। परन्तु उसकी विजय-लालसा और क्षमता वृद्धि से तत्कालीन समाज ने लाभ नहीं उठाया, परवर्ती समाज ने उससे शिक्षा अवश्य ग्रहण की। ईसाई धर्म में सांसारिक वैभव का तिरस्कार किया गया है और क्षमता के स्थान में प्रेम और सहनशीलता का आदर है। इसी धर्म ने योरप की सभ्यता का नवीन रूप दिखलाया। तब राजनीति और समाज में धर्म का प्रभुत्व स्थापित हुआ। यही मध्ययुग का प्रारम्भकाल है। शासक और शासित-वर्ग, राजा और प्रजा; दोनों के लिए समाज ने एक मर्यादा निश्चित कर दी। पोप की शक्ति का प्रधान कारण यही था कि वह लोक-मर्यादा का संरक्षक समझा जाता था। योरप इसे पृथ्वी पर भगवान का प्रतिनिधि समझता था। पोप के व्यक्तित्व पर कोई शक्ति आरोपित नहीं की गई थी। शक्ति समाज की थी और पोप उसका प्रतिनिधि था। योरप में जो स्थान पोप का था मुसलमान साम्राज्य में वही स्थान खलीफा को दिया गया था। येन खलीफा मुसलमानों की राजनीति और धर्म दोनों का परिचालक था।

मध्य युग में मुसलमानों की खूब श्री-वृद्धि हुई। सातवीं शताब्दी में मुहम्मद ने अपना मत चलाया। जिन जातियों में पहले संगठन के अभाव से शक्ति नहीं थी, उन्हें धर्म के सूत्र में बाँध कर मुहम्मद ने

संसार की सर्वश्रेष्ठ जाति में परिणत कर दिया। मध्ययुग में मुसलमानों ने ही सर्वत्र विद्या और विज्ञान का प्रचार किया।

मुसलमानों की उन्नति का सबसे बड़ा कारण यह है कि उन्होंने धर्म को राजनीति से पृथक नहीं किया। बगदाद का खलीफा मुसलमान साम्राज्य का अधिपति था और वही उनके धर्म का आचार्य था। धार्मिक मुसलमान राजनैतिक शक्ति की कामना से युद्ध नहीं करता था, किन्तु वह सत्य के प्रचार के लिए अपना बलिदान करता था। मध्ययुग की किसी दूसरी जाति में धार्मिक भावों की यह प्रबलता नहीं थी। यह सच है कि मुसलमानों के साथ जब ईसा-धर्मावलम्बियों का युद्ध हुआ तब पोप की प्रार्थना पर सभी ईसाई सम्राट सम्मिलित हुए। परन्तु सब सम्राटों का एक लक्ष्य कभी न हुआ। आत्मरक्षा के लिए अपने समाज-शत्रु के विरुद्ध कुछ लोग कुछ समय के लिए एकता स्थापित कर सकते हैं, पर ऐसी एकता चिरस्थायी नहीं हो सकती। ईसाई सम्राटों को धर्म रक्षा से अधिक अपने देश की रक्षा ध्यान था। वे जानते थे कि ईसाई मत की उन्नति से उनके देश की उन्नति नहीं होगी और न उसकी अवनति से उनके देश का पतन ही होगा। पोप का धार्मिक प्रभुत्व नष्ट हो जाने पर फ्रांस और इंगलैंड अतःपतित नहीं हुए। परन्तु मुसलमानों का दूसरा लक्ष्य था। खलीफा की उन्नति से उनकी उन्नति थी और उसकी अवनति से उनका पतन था। जब संसार में व्यक्ति और समाज का संघर्ष था तब मुसलमानों में यह प्रश्न उठा ही नहीं। यही उनकी उन्नति का प्रधान कारण था और यही उनके पतन का मुख्य कारण हुआ। मुसलमानों का यह धार्मिक भाव एक क्षुद्र सीमा में ही प्रबल हो सकता है। जल में पत्थर फेंकने से जो लहर उठती है, वह बढ़ती जाती है। पर ज्यों-ज्यों वह बढ़ती है त्यों-त्यों उसकी शक्ति क्षीण होती जाती है। यही हाल मुसलमानों की धर्म शक्ति का था। जब उनका प्रसार खूब हो गया तब उनकी यह शक्ति बिलकुल क्षीण हो गई।

[२]

संसार के इतिहास में ऐसी कोई भी जाति नहीं है जिसने अपनी शक्ति को सदैव अक्षुण्ण रक्खा हो। उत्थान के बाद सभी का पतन हुआ है। कभी किसी जाति ने उन्नति की है तो कभी किसी जाति ने अवनति। परन्तु उन्नति की चरम सीमा तक पहुँच कर अन्त में सभी का अधःपतन हुआ है। प्राचीन मिस्र का गौरव अब उसके ध्वंसावशेषों में है। कभी भारत की ऊर्जितावस्था थी। अब भारतीय आर्य जाति की गौरव कथा उसके प्राचीन साहित्य में ही विद्यमान् है। प्राचीन ग्रीस की विश्व-विजयिनी शक्ति नष्ट हो गई। रोम का साम्राज्य अतीत-काल की कथा-मात्र है। मुसलमानों की प्रचण्ड शक्ति के आगे संसार नत हो चुका है। अब उसे ही अपने अस्तित्व की रक्षा की चिन्ता है। आजकल योरपीय जातियों का प्राधान्य है। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि उसका अभ्युदय चिरस्थायी है। कितने ही पाश्चात्य विद्वानों ने आधुनिक योरपीय सभ्यता की समीक्षा कर उसके भविष्य के विषय में अपनी आशंका प्रकट की है। विचारणीय यह है कि किसी जाति के उत्थान और पतन के कारण क्या है।

प्राचीन काल में कितनी ऐसी जातियाँ थीं जिनका अब अस्तित्व तक नहीं है। उसके उत्थान-पतन के इतिहास में हम कार्य-कारण का कुछ विलक्षण ही सम्बन्ध पाते हैं। हम यह देखते हैं कि कार्य का उद्देश्य कुछ था और उसका परिणाम कुछ दूसरा ही हुआ। धर्म की उन्नति के लिए तो आन्दोलन हुआ, पर उनका फल हुआ एक प्रबल जाति की सृष्टि। जाति उठी तो दूसरों को सत्पथ दिखाने के लिए, किन्तु स्वयं विपथगामिनी हो गई। वह अपना उद्देश्य भूल गई और स्वयं अपने नाश का कारण हो गई। जाति की उन्नतावस्था में उसके पराभाव के कारण उत्पन्न हुए और जाति को दुरवस्था में उसकी उन्नति के साधन प्रस्तुत हुए।

देश की प्राकृतिक स्थिति और जलवायु के कारण जाति में कुछ ऐसी विशेषता आ जाती है जो अन्य देशों के रहने वाली जातियों में नहीं पाई जाती। जो लोग समभूमि में रहते हैं, उनकी अपेक्षा पार्वत्य देश के निवासी अधिक कष्ठ-सहिष्णु होंगे। इसी प्रकार जो लोग सजला-सफल भूमि में कम परिश्रम से अपने जीवन की आवश्यक सामग्री प्राप्त कर लेते हैं उनकी शारीरिक शक्ति उन जातियों की अपेक्षा कम होगी जो मरूभूमि में रहकर कठिन परिश्रम से अपने जीवन का निर्वाह कर लेते हैं। इसके सिवा सजला-सफला भूमि में भिन्न-भिन्न जातियों का संघर्ष अवश्य होता रहेगा, क्योंकि सभी मनुष्य वैसे ही देश पाने की कामना करेंगे जहाँ अनायास उनका जीवन-निर्वाह हो जाय। अतएव समभूमि और शस्य-शम्पन्न देश के निवासियों के लिए जाति सम्मिश्रण के कारण जीवन में अधिक जटिलता रहेगी। इस जटिलता का प्रभाव जाति के अशन-वशन, आमोद-प्रमोद, तथा जीवन के साधारण कृत्यों पर भी पड़ता है। जब जीवन में सरलता रहती है तब मोटा पहनना और मोटा खाना यथेष्ट रहता है। परन्तु यह जीवन की जटिलता में संभव नहीं रहता। आमोद-प्रमोद के कितने ही उपकरण उस समाज के लिए आवश्यक हो जाते हैं जहाँ संघर्ष अधिक है। मानसिक शक्ति पर भी इसका प्रभाव देखा जाता है। जो जाति अपने जीवन के लिए अपनी शारीरिक शक्ति पर अवलम्बित है, उसे जड़ पदार्थ ही अधिक सारवान प्रतीत होंगे। अतएव जो सभ्यता वह निर्मित करेगी वह जड़ानुगत होगी। जिन जीवन में सुख-स्वच्छन्दता, सुविधा और विलास की वृद्धि होती है उन्हीं की पुष्टि उसमें होगी। इन्द्रिय की परितृप्ति तथा जीवन की शारीरिक आवश्यकताओं को पूर्ण करने की योजना में ही उसकी सभ्यता के आदर्श निर्मित होंगे। इसके विपरीत जो जाति अनायास ही अपने जीवन का निर्वाह कर लेती है वह शारीरिक सुखों की अपेक्षा मानसिक सुखों की प्राप्ति के लिए अधिक चेष्टा करेगी। अतएव उसकी सभ्यता

आध्यात्मिक होगी। इसी आध्यात्मिक सभ्यता के कारण कभी-कभी जाति संसार की इतनी उपेक्षा करने लगती है कि वह अकर्मण्य हो जाती है। इसी अकर्मण्यता का फल पतन है। जब भिन्न-भिन्न जातियों का संघर्ष होता है तब एक का प्रभाव दूसरे पर पड़ता है। इससे वे एक दूसरे से कितनी ही बातें ग्रहण कर लेते हैं। इनसे भी जाति की गति उन्नति अथवा अवनति की ओर अग्रसर होती है।

जातियों के पतन का कारण बतलाते हुए विद्वानों ने विलासिता वृद्धि द्वारा जातीय चरित्र-हानि, अज्ञान की वृद्धि, वैराग्य और अकर्मण्यता आदि कारणों का उल्लेख किया है। ये सब कुशिक्षा के प्रभाव कहे जा सकते हैं। एक और कारण है जिसे हम प्राकृतिक निर्वाचन का प्रभाव कहेंगे। यही जाति की अन्तःस्थित व्याधि का द्योतक है। इसकी व्याख्या एक विद्वान् ने इस प्रकार की है।

जातीय उन्नति या अवनति का मतलब है जाति के व्यक्ति-वर्ग की उन्नति या अवनति। व्यक्ति-वर्ग का अच्छा या बुरा होना दो बातों पर निर्भर है। पहली बात यह कि उसके जन्म सिद्ध-संस्कार कैसे हैं। और दूसरी बात यह है कि उसे शिक्षा कैसे मिली है। जब कोई जन्म लेकर आता है तब वह अपने शरीर के साथ कुछ संस्कार भी लेता आता है। यह सभी जानते हैं कि भिन्न-भिन्न बालकों में शक्ति की समानता नहीं रहती। किसी में कोई शक्ति अधिक है तो किसी में कोई शक्ति। शक्ति की तरह स्वभाव में भी भिन्नता रहती है। कोई स्वभाव से दयालु होता है तो कोई स्वभाव से निष्ठुर। किसी की बुद्धि तीक्ष्ण होती है तो किसी की मन्द। कहा जाता है कि गदहा ठोंक-पीट कर घोड़ा नहीं बनाया जा सकता। इस कथन में सत्यता है। तो भी यह मानना पड़ेगा कि शिक्षा का भी बड़ा प्रभाव होता है।

यहाँ शिक्षा से मतलब उन बातों से है जिन्हें मनुष्य अपने पार्श्ववर्ती सहचर-वर्ग से सीखता है। बालकों को अपनी सहवासियों

से जो शिक्षा मिलती है वह उसके चरित्र-निर्माण में बड़ा काम करती है। जो बालक स्वभाव से दयालु होता है वह भी निर्दयों की संगति में पकड़कर क्रूर हो जाता है। इसी प्रकार कितनी तीक्ष्ण बुद्धि का बालक क्यों न हो, यदि उसे शिक्षा बिलकुल न दी जाय तो वह मूर्ख हो जायगा। जो बालक विलास की गोद में पले हैं वे विलास-प्रिय अवश्य होंगे। इसी तरह जिन्हें दारिद्रय का अनुभव करना पड़ा है वे परिश्रमी और कष्टसहिष्णु होंगे। मतलब यह है कि चरित-निर्माण के लिए जिस प्रकार स्वाभाविक वृत्ति आवश्यक है उसी प्रकार उन स्वाभाविक वृत्तियों के विकास के लिए शिक्षा की भी आवश्यकता है। एक के अभाव से दूसरे का विकास असंभव है। गणित के उदाहरण से यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है। मान लीजिए स्वाभाविक वृत्ति 'क' है, शिक्षा 'ख' और मनुष्य या व्यक्तित्व 'ग'। फल यह होगा कि क × ख = ग। अब चाहे क कितना ही कम क्यों न हो, यदि ख अधिक है तो उसका गुणन-फल ग कम नहीं होगा। परन्तु यदि क (०) शून्य है तो ख कितना ही अधिक क्यों न हो उसका गुणन-फल शून्य ही रहेगा। इसी प्रकार यदि ख शून्य होगा तो क के बड़ा रहने पर भी गुणन-फल शून्य ही होगा। मतलब यह कि यदि किसी जाति की हीनावस्था है तो उसका कारण जानने के लिए हम देखेंगे कि उस जाति के व्यक्तिवर्ग की स्वाभाविक वृत्तियों का ह्रास हुआ है अथवा उनके विकास के लिए उचित अवस्था का अभाव हुआ है।

मनुष्यों की कितनी ही मानसिक वृत्तियाँ—जैसे चिन्ताशक्ति, दया, साहस या स्वार्थ-परता, निष्ठुरता, विषय-लिप्सा वंश परंपरा से चली आती है। शारीरिक आकार तथा वर्ण की तरह हम उन्हें भी अपने माता-पिता से पाते हैं। कहना नहीं होगा कि योग्य माता-पिता की संतान में योग्यता प्रदर्शित होगी। प्राकृतिक निर्वाचन का फल यह है कि निम्नावस्था से भी जाति उन्नतावस्था को पहुँच जाती है। इसी प्राकृतिक निर्वाचन के कारण निर्बल आप से आप नष्ट हो जाते हैं और

सबल ही जीवित रहते हैं और उन्हीं से वंश की रक्षा होती है। इसी से समाज में योग्य व्यक्तियों की संख्या बढ़ती जाती है और पारिपार्श्विक अवस्था से संग्राम करते-करते समाज उन्नति के पथ पर अग्रसर होता जाता है। सभ्यावस्था में प्राकृतिक निर्वाचन का ह्रास होने लगता है। सभ्य समाज में निर्बल और रुग्ण व्यक्तियों की भी रक्षा होती है। निर्बुद्धियों को भी आश्रय मिलता है। धन, मान, आदि कृत्रिम भेदों की सृष्टि होने से प्राकृतिक निर्वाचन का द्वार ही बन्द हो जाता है। रुग्ण, निर्बोध, पापात्मा व्यक्ति भी धनी या उच्च पदस्थ होने के कारण अपने वंश की वृद्धि करते हैं। अयोग्य व्यक्तियों की वंश वृद्धि से सभ्य समाज में अयोग्य व्यक्तियों की संख्या बढ़ती जाती है। फल यह होता है कि प्राकृतिक निर्वाचन के अभाव से जाति की शारीरिक और मानसिक शक्तियों का ह्रास होता जाता है। इससे न तो उन्नति के अनुकूल स्वाभाविक वृत्ति का आविर्भाव होता है और न उनके विकास के लिए उचित अवस्था ही हो सकती है। अतएव जाति का पतन अनिवार्य है। जाति में वर्णसंकरता का दोष आ जाने से यह पतन शीघ्र हो जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से वह स्पष्ट हो जाता है कि जाति के उत्थान और पतन में सब से बड़ा कारण भिन्न भिन्न जातियों का पारस्परिक संघर्ष है। जब दो जातियों का पारस्परिक संघर्ष होता है तब उसका फल यही होता है कि जो जाति सबल होती है वह दूसरी निर्बल जाति को दबा देती है। यदि यही संघर्ष दो समान-बल जातियों में हुआ तो दीर्घकाल-व्यापी युद्ध अवश्यम्भावी है। जातीय उन्नति पर युद्ध का बड़ा ही घातक परिणाम होता है। युद्ध में प्रायः वही लोग सम्मिलित होते है जो शक्ति-सम्पन्न हैं। परिणाम यह होता है कि जाति के शक्तिशाली वीरों का तो संहार युद्ध में हो जाता है और जाति की वंश-रक्षा का भार निर्बल और अयोग्य व्यक्तियों पर पड़ता है जो जीवित रहते थे। उनकी सन्तानों में शक्ति-हीनता बढ़ती जाती है और

अन्त में जाति सर्वथा शक्तिहीन हो जाती है। दीर्घकाल व्यापी युद्ध का यही कारण है। ग्रीस और रोम के जातीय अधःपतन के भी यही कारण हैं। वेरी नामक एक विद्वान् ने लिखा है कि रोम में युद्धों के बाद रोमनों की संख्या अत्यन्त कम हो गई थी। संख्या-वृद्धि हुई दासों की, जो युद्ध में सम्मिलित नहीं होते थे। यह संख्या इतनी कम हो गई थी कि सम्राट् आगस्टस ने जन-संख्या की वृद्धि के लिए धन देना आरम्भ किया था। सच तो यह है कि ग्रीस, रोम, कार्थेज, मिस्र, अरब आदि सभी देशों का पतन इसी कारण से हुआ। शक्तिशाली व्यक्तियों का क्षय और निकृष्ट श्रेणी के व्यक्तियों की प्रधानता होने से जाति में दुर्बलता बढ़ती जायगी और उसका पतन अवश्यम्भावी है।

भारतवर्ष के इतिहास में जातीय उत्थान और पतन के कितने ही उदाहरण मिलते हैं। वैदिक युग में आर्यों का संघर्ष हुआ। आर्यों ने अनार्यों को पराजित कर पंजाब को स्वायत्त किया। अनार्य जातियाँ शारीरिक गठन, मानसिक वृत्ति और नैतिक बल में आर्यजाति से हीन थीं। इससे आर्यों का व्यवहार तीन प्रकार से हो सकता था। पहला यह कि अनार्य जाति को बिलकुल उन्मूल कर देना। चाहे इच्छा से ही अथवा अनिच्छा से, अमरीका और आस्ट्रेलिया में योरोपीय जातियों ने इसी नीति का अनुसरण किया है। दूसरा ढंग है अन्तर्विवाह द्वारा इन दोनों जातियों का सम्मिश्रण हो जाना। मुसलमानों ने विजित जातियों के ऐसा ही सम्बन्ध किया था। परन्तु इससे उनमें निकृष्ट जातियों के दोष आ गये और फल यह हुआ कि उनका वंश निकृष्ट हो गया। तीसरा यह कि अपने ही समाज में उनको निम्नस्थान देकर उनकी रक्षा करना। भारतीय आर्यों ने यही किया। आर्य और अनार्य जाति में वर्णसंकरता का निवारण करने के लिए वर्णभेद की सृष्टि हुई।

पहले-पहल भारतीय आर्यों की एक ही जाती थी। क्रमशः समाज की उन्नति से उसमें मल-विभाग हुआ। जो समाज का उत्कृष्ट अंश था वह ज्ञान-चर्चा और शासन-कार्यों में निरत हुआ। अवशिष्ट लोग कृषि, शिल्प, वाणिज्य आदि में संलग्न हुए। इस प्रकार आर्यों में तीन वर्णों की सृष्टि हुई, किन्तु उनमें परस्पर वैवाहिक सम्बन्ध प्रचलित था। क्रमशः वैश्यों से ब्राह्मण और क्षत्रियों का वैवाहिक सम्बन्ध कम होने लगा। परन्तु ब्राह्मणों और क्षत्रियों में यह सम्बन्ध बना ही रहा। रामायण और महाभारत में कितने ऐसे ऋषियों का उल्लेख किया गया है जिन्होंने राज-कन्याओं का पाणि-ग्रहण किया था। उनकी सन्तान वर्णसंकर जाति में नहीं गिनी जाती थी। परन्तु शूद्रों और द्विजों के सम्मिश्रण से जो वर्णसंकर जाति उत्पन्न होती थी वह देव समझी जाती थी। इसीलिए वर्णभेद की सृष्टि कर कृत्रिम निर्वाचन के द्वारा ब्राह्मण वंश में पाण्डित्य, क्षत्रिय वंश में शौर्य और वैश्य-वंश में कला-नैपुण्य की रक्षा की गई। कहना नहीं होगा कि इसी प्रथा के कारण हिन्दू-जाति विजातीय संघर्ष को सहकर अब तक जीवित रह सकी है।

अब विचारणीय यह है कि हिन्दू-जाति की शारीरिक और मानसिक शक्तियों का ह्रास क्यों हुआ। प्राचीन काल में उसने बड़ी उन्नति की थी, उसकी शक्ति अप्रतिहत थी, उसका वैभव अतुल था। उसने अपनी वंश-रक्षा की ओर भी ध्यान दिया। फिर उसकी अवनति क्यों हुई? बात यह है कि जो सभ्यता एकतामूलक नहीं है वह जाति-समस्या को दूर नहीं कर सकती। उससे केवल भेदों की वृद्धि होती जायगी। यह सच है कि भारत ने प्राचीन काल में उस वृहत् सत्य का आविष्कार कर लिया था जिससे सभी अनैक्यों में एकता हो जाय। यह भाव उसकी सभ्यता के मूल में था। किन्तु भारतीय सभ्यता का यह आदर्श जो एकता-मूलक था समाज में कभी प्रचलित नहीं हो सका। समाज के संरक्षण के लिए वर्णव्यवस्था अवश्य अनुकूल

थी। परन्तु उससे जाति-भेद की समस्या दूर नहीं हो सकती। संरक्षण नीति आत्म-रक्षा के लिए उचित है, किन्तु हिन्दू-समाज को सदैव आत्म-रक्षा की चिन्ता तो थी नहीं। जब तक बाह्य संघर्ष है तब तक समाज में संरक्षण नीति सफल हो सकती है। परन्तु बाह्य संघर्ष के दूर होते ही वही नीति समाज को संकुचित कर देती है। अल्प-संख्यक आर्यजाति ने बहु-संख्यक अनार्य-जातियों पर अपनी उच्च शारीरिक और मानसिक शक्ति से विजय प्राप्त कर ली। उसने एक बृहत् सत्य का आविष्कार कर उनको अपनी जाति में सम्मिलित तो कर लिया। परन्तु वर्ण-भेद बना ही रहा। फल यह हुआ कि आर्यजाति के साथ अनार्य जातियों की भी संख्या-वृद्धि होने से समाज में भेदों की संख्या बढ़ती ही गई। आर्यजाति उस बृहत् सत्य को तो भूल गई जिसमें सभी भेदों का सामंजस्य हो सकता है और वह भिन्नता ही पर जोर देने लगी। अतएव भारत में संघर्ष सदैव विद्यमान रहा। भिन्न-भिन्न युगों में कितने ही महात्माओं ने जन्म लेकर इसी भेद को दूर कर एकता स्थापित करने की चेष्टा की। परन्तु यह एकता केवल आध्यात्मिक जगत् में ही रही। व्यवहारिक जगत् में उन महात्माओं की चेष्टा से नये-नये ग्रन्थों और नई-नई जातियों की ही सृष्टि हुई। भिन्न-भिन्न समाजों की सृष्टि से समाज की सीमा संकुचित होती गई और अत्यन्त संकुचित हो जाने के कारण समाज में श्रेष्ठ शक्ति का पूर्ण विकास नहीं हुआ। कहीं शक्ति का अति संचय होने से उनका अपव्यय होता था, तो कहीं उदीयमान शक्ति के विकास के लिए अनुकूल अवस्था ही नहीं थी। परिणाम यह हुआ कि जिस वर्णव्यवस्था से हिन्दू जाति आत्मरक्षा कर सकती थी, उसी से उसकी उन्नति की गति अवरुद्ध हो गई। समाज के संकुचित होने का एक दुष्परिणाम है विलासिता। विलासिता की वृद्धि तभी होती है जब किसी क्षुद्र सीमा में शक्ति का अति संचय हो जाता है। पुराणों में यदु-वंश की पतन कथा इसका बड़ा अच्छा उदाहरण है। महाराज

यदु के श्रेष्ठ वंश का भी पतन इसी शक्ति के अति संचय से हुआ दूसरी बात यह है कि ऐसे समाज पारस्परिक विरोध पर अधिक ध्यान देते हैं। इसका फल संघर्ष है, और पारस्परिक संघर्ष के कारण शक्ति का सदैव अपव्यय होता है। इससे भी जाति की शक्ति क्षीण होती है। जाति के अशक्त होने पर उसमें वर्णसंकरता का दोष अवश्य आता है। यही कारण है कि महाभारत के युद्ध में अर्जुन ने अपनी जाति के भविष्य के विषय में जो आशंका प्रकट की थी वह ठीक ही उतरी। प्राचीन भारतीय इतिहास में मौर्य अथवा गुप्तों का साम्राज्य अस्थायी ही रहा। इसका कारण समाज भेद, वर्ण-संकरता और विलासिता-वृद्धि है। मध्य-युग में मुसलमानों के आगमन से भारत में एक समस्या और बढ़ गई। हिन्दू-जाति ने वर्ण-व्यवस्था के कारण अपने अस्तित्व को अवश्य अक्षुण्ण रखा। परन्तु उसमें एक जातीयता का भाव लुप्त हो गया। धार्मिक-सम्प्रदायों और समाज-भेदों ने उसे दासत्व में ही रक्खा। इसी से उसने कभी जातीय भाव से प्रेरित हो उठने की प्रबल चेष्टा नहीं की। इसका काल यही हो सकता है कि उनमें एक-जातीयता का भाव था ही नहीं। राजपूत, मरहठे और सिक्खों ने अपनी-अपनी उन्नति के लिए स्वतन्त्र चेष्टाएँ की। उन्होंने उन्नति तो अवश्य की। परन्तु उनका अभ्युदय क्षण-स्थायी ही रहा। इसका कारण है संकुचित सीमा में शक्ति का प्रसार। गुरु गोविन्द ने सिक्खों को एक जाति के रूप में परिणत कर अदम्य बना दिया। परन्तु उसी शक्ति से उनका पतन भी हुआ। मरहठों और राजपूतों की भी यही दशा हुई। संघर्ष बना ही रहा और उसमें शक्ति का अपव्यय होता रहा।

भारत की यह जाति-समस्या अभी तक विद्यमान है। उसके विषय में रवीन्द्रनाथ ने लिखा है कि भारत ने विधि-निषेध द्वारा भिन्न-भिन्न जातियों के पारस्परिक संघात को दूर करने की चेष्टा की है। परन्तु इस प्रकार का अभावात्मक आयोजन दीर्घकाल तक ठहर नहीं

सकता। मानव-समाज यन्त्र की तरह परिचालित नहीं हो सकता। जिन जातियों का इतिहास स्वतन्त्र है, जिनके सामाजिक और नैतिक आचारों में भिन्नता है उनका पारस्परिक संघर्ष तभी बन्द हो सकता है जब एकता की भित्ति प्रेम-मूलक हो। भारतवर्ष में ऐसा भावात्मक, ऐक्य मूलक आध्यात्मिक आदर्श है। सुप्त होने पर भी वह प्राणहीन नहीं हुआ है। उसमें यह शक्ति है कि वह सभी वाह्य अनैक्यों को स्वीकार करके भी अन्तर्गत एकता को देखता है। भारतवर्ष के ज्ञान के कारखाने में वह सोने की कुञ्जी तैयार है जो एक दिन सभी द्वारों को खोल देगी और चिरकाल से विच्छिन्न जातियों को प्रेम के महानिमन्त्रण में सम्मिलित करेगी।

रोम-साम्राज्य के अधःपतन होने पर भिन्न-भिन्न देशों के राजाओं की शक्ति बढ़ गई। सभी राजा अपने स्वार्थ साधन की चेष्टा करने लगे। सभी अपनी शक्ति बढ़ाना चाहते थे, पर यह कोई नहीं चाहता था कि किसी एक की शक्ति सबसे अधिक हो जाय। इसलिए राजाओं में बल-साम्य का आदर्श निश्चित हुआ। सन्धि द्वारा कुछ नरेश मिलकर अपने पक्ष को पुष्ट करने लगे। इसी समय योरप में नव-युग स्थापित हुआ। मध्य-युग के बाद सर्वसाधारण में विद्या और विज्ञान का प्रचार होने से जो जागृति हुई उससे समाज में राजनैतिक जागृति भी हुई। समाज का राजनीति से और राजनीति का व्यवसाय से घनिष्ट सम्बन्ध हो गया। पहले तो राजा और प्रजा से राजनैतिक सत्ता के लिए विरोध हुआ। पर अन्त में राज्य पर जनतंत्र स्थापित हुआ और जनतन्त्र के रूप में राष्ट्र का ही प्रभुत्व स्थापित हुआ। राष्ट्र की प्रभुता का कारण था उसकी व्यवसाय-वृद्धि। इसका परिणाम यह हुआ कि अब राष्ट्रों के पारस्परिक विग्रह में उसी राष्ट्र की विजय हो सकती है जो सबसे अधिक समृद्धिशाली हो।

व्यवसाय के क्षेत्र में छोटे-बड़े सभी राष्ट्र एक दूसरे के प्रति-द्वन्द्वी हैं। संसार के व्यवसाय को स्वायत्त करने के लिए अभी तक कई

महायुद्ध हो चुके हैं। आधुनिक योरप का इतिहास एक व्यावसायिक युद्ध से आरम्भ हुआ था। पहला योरपीय महासमर का भी कारण यही प्रतियोगिता था। अपनी समृद्धि के लिए अब एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र की सम्पत्ति हड़प जाने में जरा भी संकोच नहीं करता।

यह राष्ट्र है क्या? क्या वह सजीव व्यक्तियों का समुदाय है अथवा सिर्फ एक निर्जीव विचार मात्र है जिसका अस्तित्व केवल राजनीतिज्ञों के मस्तिष्क में है। जब यह कहा जाता है कि किसी देश की सम्पत्ति इतनी है तब अर्थशास्त्र के विद्वान् अंकगणित के द्वारा यह सिद्ध कर देते हैं कि उक्त देश के प्रत्येक व्यक्ति की सम्पत्ति इतनी है। परन्तु क्या राष्ट्र की सम्पत्ति पर प्रत्येक व्यक्ति का समान अधिकार है? क्या राष्ट्र की उन्नति करने का अवसर मिलता है? बात यह कि थोड़े ही योग्य मनुष्यों में राष्ट्र की शक्ति और सम्पत्ति विभक्त हो गई है। वर्तमान अशान्ति का सबसे बड़ा कारण यह है कि अब प्रत्येक व्यक्ति अपने विकास के लिए क्षेत्र चाहता है।

[२]

आज तक सार्वभौम शांति स्थापित करने के लिए बड़े-बड़े उद्योग किये गये। परन्तु सब निष्फल हुए। स्वतंत्रता और समानता की खूब दुहाई दी गई। परन्तु उसका कोई फल नहीं हुआ। हेग की शान्ति परिषद् और लीग आफ नेशन्स के द्वारा शान्ति स्थापित न हो सकी। कुछ विद्वानों की यह सम्मति थी कि व्यवसाय के कारण अब एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र पर इतना अवलम्बित हो गया है कि एक की हानि से दूसरे की भी हानि है। एक विद्वान् ने तो यहाँ तक कहा था कि संसार की वर्त्तमान व्यवसायिक स्थिति से युद्ध ही असम्भव है, युद्ध से विजेता को लाभ नहीं। तो भी युद्ध हुआ।

आज कितने ही देशों में जनतंत्र की प्रतिष्ठा हो गई है। अन्य देशों में तो उनके लिए घोर युद्ध भी हुए हैं। हमारे देश में त्याग और

तपस्वी के आधार पर जनतंत्र की स्थापना हुई। जो वस्तु घोर परिश्रम या कष्ट के बाद प्राप्त होती है उसका मूल्य भी उतना ही अधिक होता है। परन्तु यदि लोगों को यह अनुभव हुआ कि कठोर तपस्या के द्वारा उपलब्ध यह वस्तु भी अब मूल्यवान नहीं है तब उनमें एक विशेष असंतोष का भाव जाग उठता है। जनतंत्र के सम्बन्ध में भी यह बात कही जा सकती है। फ्रांस की राज्यक्रांन्ति के समय में रूसो तथा उसी के समान अन्य विज्ञों को जनतंत्र के सम्बन्ध में एक विशेष उत्साह था। साधारण लोग भी जनतंत्र की स्थापना में एक विशेष उल्लास का अनुभव करते थे। उसमें विजय का भी एक गौरव था। परन्तु अब उस उत्साह का अभाव सा हो गया है। उसका मुख्य कारण यह है कि जब तक वह स्थापित नहीं हुआ था तब तक उसके समर्थक उसके सम्बन्ध में बड़ी-बड़ी बातें किया करते थे। इसी से लोगों के हृदय में बड़ी बड़ी आशायें भी उत्पन्न हो गई थीं। जनतन्त्र की स्थापना के बाद यद्यपि लोगों को यथेष्ठ लाभ हुए तो भी उनकी सभी समस्यायें पूर्ण नहीं हुईं। इससे उनके भीतर नैराश्य का भाव आ जाना स्वाभाविक था। राजतंत्र के जो दोष थे वे तो जनतंत्र की स्थापना के बाद विलुप्त हो गये। परन्तु उन दोषों के अभाव में लोग जनतंत्र से अन्य जिन बड़ी बातों की आशा कर रहे थे वे पूर्ण नहीं हुईं। इससे जनतंत्र की सफलता को वे भूल गये। एक साधारण मनुष्य के भीतर जो मनुष्यत्व का सच्चा गौरव रहता है उसकी ओर वे दृष्टिपात नहीं कर सके। उसके स्थान में लोगों के हृदय में वीर पूजा का भाव स्थान पाने लगा। वीर पूजा में असाधारण व्यक्ति के असाधारण गौरव का भाव विद्यमान् रहता है। ऐसी वीर पूजा का अंतिम परिणाम यह होता है कि वह 'फासिज्म' में परिवर्त्तित हो जाता है। उसमें न तो साधारण मनुष्य की महत्ता रह जाती है और न असाधारणों के लिए ही स्थान रह जाता है। उसमें संस्थाओं की महत्ता बढ़ जाती है। एक व्यक्ति अपने समाज से पृथक अपना कोई

महत्त्व नहीं रखता। समाज के भीतर जो शक्ति है उसी का एक अंश होने के कारण व्यक्ति का अपना एक महत्त्व होता है और उपयोग भी, परन्तु यह किसी विशाल यंत्र का एक पुरजा सा हो जाता है। इस प्रकार राजनीति के क्षेत्र में तीन विचारधारायें स्पष्ट रूप से लक्षित होने लगती हैं। पहली विचारधारा में एक व्यक्ति एक साधारण मनुष्य है। साधारण होने पर भी उसका अपना एक अधिकार है, अपना एक कर्त्तव्य है, अपना एक महत्व है। दूसरी विचारधारा में असाधारण क्षमता सम्पन्न व्यक्ति प्रमुख हो जाता है। वही धीरे धीरे समाज का यथार्थ नियंता होता है। उसी का अपना एक महत्व होता है। तीसरी विचारधारा में मनुष्य यंत्र का एक पुरजा मात्र हो जाता है। पहली विचारधारा से जनतंत्र होता है, दूसरी विचारधारा से फासिज्म आता है और तीसरी से साम्यवाद। इसमें संदेह नहीं कि भिन्न भिन्न स्थितियों में ये तीनों बातें सभी व्यक्तियों के जीवन में लक्षित होती हैं। जब मतदान का समय आता है तब बड़े से बड़ा साहित्यकार, कलाकार, या उद्योगपति भी साधारण मनुष्य की स्थिति में पहुँच जाता है। इसी प्रकार अत्यन्त साधारण स्थिति में रहकर भी कोई व्यक्ति जब किसी विशेष अवसर पर अपना आत्मत्याग प्रकट करता है तब उसके कारण उसकी असाधारणता स्पष्ट हो जाती है। वह भी एक वीर बन जाता है और उनके प्रति लोगों में वीर पूजा का भाव आ जाता है। जब कोई व्यक्ति किसी संस्था में काम करता है तब वह उस संस्था का एक अंग मात्र बन जाता है। तब यह यंत्र में एक पुरजे की तरह ही काम करता है। विज्ञान के द्वारा जीवन का क्षेत्र अब इतना अधिक विस्तृत हो गया है कि उसमें अब सभी व्यक्तियों का स्थान मशीन के भिन्न-भिन्न पुरजों की तरह निर्दिष्ट हो जाता है। इसमें संदेह नहीं कि जो सबसे अच्छी सामाजिक व्यवस्था होगी उसमें इन तीनों विचारधाराओं का समावेश व्यक्तियों के जीवन में होना चाहिए। वीर का भाव अथवा असाधारण का गौरव किसी

मनुष्य के जीवन में तभी प्रकट होता है जब उसे अपनी अन्तःस्फूर्ति को व्यक्त करने के लिए बराबर अवसर मिलता है। सभी के भीतर गौरव की एक कामना रहती है महत्व के लिए तीव्र आकांक्षा सभी को कर्मक्षेत्र में प्रेरणा देती है। अतएव वीर पूजा का भाव राष्ट्र के विकास में बाधक नहीं हो सकता। उसी प्रकार चाहे कितना ही असाधारण व्यक्ति हो और उसमें विलक्षण क्षमता हो पर एक साधारण मनुष्य के रूप में उसे भी पूर्ण सुरक्षा चाहिये, इसी प्रकार एक मशीन के पुरजे की तरह सभी मनुष्यों को कर्मक्षेत्र के भीतर अपनी उपयोगिता होनी चाहिये। इनमें से किसी एक बात की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। इन तीनों विचार-धाराओं में तीसरा सिद्धान्त सबसे अधिक अनिष्टकारक हो जाता है। बात यह कि उसमें यंत्र साधन न होकर स्वयं साध्य बन जाता है। अलाउद्दीन के चिराग की तरह मनुष्य भी यंत्र का दास बन जाता है। हम सब यंत्र की ही पूजा करने लगते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि वैज्ञानिक साधनों ने समाज की एक ऐसी व्यवस्था निर्मित कर दी है कि हम सब सचमुच कल के पुरजों की तरह काम करते जा रहे हैं। किसी में असाधारण क्षमता हो या न हो, वह उस व्यवस्था के अन्तर्गत एक निर्दिष्ट स्थान में एक निर्दिष्ट कार्य ही करता है। इस स्थिति को दूर करने के लिए व्यक्ति में अन्तःस्फूर्ति का भाव लाना ही चाहिये। ऐसी अवस्था में यह आवश्यक हो जाता है कि सभी क्षमता-सम्पन्न व्यक्तियों के भीतर महत्व की वह आकांक्षा होनी चाहिये जिससे वह समाज के भीतर अपना एक प्रभाव स्थापित कर सकता है। जनतंत्र में एक व्यक्ति केवल एक वोट दे सकता है। उस एक वोट के कारण वह शासन में अपना कोई विशेष प्रभाव नहीं डाल सकता। ऐसी स्थिति में सभी लोगों के भीतर अन्तःस्फूर्ति की अभिव्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में उन्हें अपनी महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए अवसर बराबर प्राप्त होता रहे।

कला और साहित्य का अपना एक विशेष स्थान आधुनिक युग में है। यह कहा जा सकता है कि इन क्षेत्रों में व्यक्तियों को पूर्ण स्वाधीनता है। उनपर वैज्ञानिक साधनों का प्रभाव नहीं पड़ा है। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि वर्त्तमान स्थिति में उनके लिए संकट नहीं है। रूस में कलाकार और साहित्यकार दोनों को अपने-अपने क्षेत्र में काम करने के लिए शासन से अधिकार प्राप्त करना पड़ता है। बौद्धिक शक्तियों को कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति से अपहृत नहीं कर सकता है। परन्तु अन्य आवश्यक वस्तुओं का तो वितरण होता ही रहता है। बौद्धिक विकास के लिए सबसे अधिक आवश्यक बात है अवसर प्रदान करना। यह देखा गया है कि अधिकांश प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति धनी होना भी नहीं चाहते और उन्हें सम्पत्ति से विशेष अनुराग भी नहीं रहता। साहित्य और कला में गुण के गौरव की परीक्षा करना बड़ा कठिन है। यह कितने ही लोग अपने जीवन-काल में उपेक्षित होकर मृत्यु के बाद अक्षय यश के पात्र हो गये हैं। इसके विपरीत जिन लोगों ने अपने जीवन-काल में गौरव अर्जित किया वे काल की गति के साथ अपनी सारी प्रतिष्ठा खो बैठे। फिर भी यह आवश्यक है कि समाज की ओर से सभी को अपनी प्रतिभा के विकास के लिए अवसर मिलना चाहिए।

यह दृढ़तापूर्वक कहा जा सकता है कि जहाँ सामाजिक सुव्यवस्था है, वहाँ प्रत्येक व्यक्ति को उपयोगी होना चाहिए, उसे सुरक्षा मिलनी चाहिए जो अन्य लोगों के लिए अनिष्टकर नहीं है। उपयोगिता का सम्बन्ध समाज से होता है। कोई कितना ही बड़ा कवि क्यों न हो और वह अपनी रचना को कितनी ही महत्वपूर्ण क्यों न समझता हो, परन्तु यदि समाज उसे समाज उपयोगी नहीं समझता है तो उस कवि को भी किसी अन्य उपयोगी कार्य के द्वारा जीवन-निर्वाह करना होगा। सुरक्षा का मतलब यह है कि वृद्धावस्था या रुग्णावस्था या

काम के अभाव के कारण किसी व्यक्ति को कष्ट नहीं होना चाहिए। समाज को यह अधिकार है कि वह सबसे काम ले। परन्तु उसका यह भी कर्त्तव्य है कि वह सब लोगों की जीवन-रक्षा की व्यवस्था करे। जो काम हम करना चाहते हैं, परन्तु परिस्थिति के कारण जो काम नहीं कर पाते, उनके जीवन-निर्वाह का भार समाज पर है। समाजवाद में इन दोनों के लिए व्यवस्था अवश्य है। परन्तु अन्तःस्फूर्ति के लिए अवसर प्रदान करना जरा कठिन अवश्य है। फिर भी जिनमें हिंसा के लिए स्थान नहीं है ऐसे कार्यों में सबको समानरूप से अवसर प्राप्त होना ही चाहिए। हम भले ही समाजवाद या अन्य किसी वाद के समर्थक या विरोधी हों, हमें इतनी स्वाधीनता अवश्य होनी चाहिए जिससे हम अपने विचारों का प्रचार कर सकें। साहित्यकारों और कलाकारों को भी अपने अवकाश-काल में अपनी सहज इच्छा के अनुसार रचना करने की स्वाधीनता चाहिए। इन पर नियन्त्रण होते से मनुष्यों में बौद्धिक पराधीनता के साथ-साथ आध्यात्मिक दासत्व भी आ जाता है। इसलिये भाव, कर्म और ज्ञान, तीनों क्षेत्रों में एक विशेष स्वाधीनता की आवश्यकता है। उन तीनों के समन्वय से राष्ट्र और व्यक्ति, दोनों का सच्चा विकास होता है।

इसमें संदेह नहीं कि आधुनिक विज्ञान ने युद्ध का रूप बिलकुल बदल दिया है। युद्ध में अब सफलता सेना की वीरता पर निर्भर नहीं है, परन्तु उन बड़े-बड़े कारखानों पर है जहाँ आधुनिक अस्त्र-शस्त्र बनाये जाते हैं। गत महायुद्ध में जापानियों से बढ़कर वीरता किसी भी राष्ट्र ने प्रदर्शित नहीं की। पर वे लोग अमेरिका की उत्पादन-कुशलता के कारण हार गये। आधुनिक अस्त्रों के कारण अब जीवन का अधिक विनाश होता है। अस्त्रों की संहारिणी शक्ति विशेष रूप से बढ़ गई है। पर युद्ध के बाद उसका जो प्रभाव मानव-जीवन पर पड़ता है वह भी अधिक अनिष्टकर है। एटम बम और हाइड्रोजन बम के कारण युद्ध में निरत सैनिकों का ही विनाश नहीं होगा उनके,

कारण पृथ्वी पर समस्त जीवन ही विलुप्त हो सकता है। ऐसी स्थिति में हम लोगों को अपने विचार, भाव और आचरण-तीनों में समुचित परिवर्तन करना होगा। इसीलिए यह आवश्यक है कि अंतर्राष्ट्रीय शक्ति के द्वारा जो भी व्यवस्था निर्मित कर दी जाय उसे स्वीकार कर लेना सभी राष्ट्रों के लिए हितकर है।

मानव-जीवन में कामना का कभी अन्त नहीं होता। सभी लोगों में सभी तरह की इच्छायें होती हैं। साधारणतया सभी मनुष्यों के मन में सुख की लालसा है सौंदर्य-बोध है चिंतन का आनन्द है और उन्हीं के साथ उनमें प्रेम है और शक्ति की भी कामना है। इनमें से कोई भी कामना किसी के भी जीवन में मुख्य हो जाती है। पर अन्य कामनायें भी बनी रहती हैं। विज्ञान ने कितने ही सुखों की वृद्धि की है। पर उसने कितने ही अनिष्टों को भी बढ़ाया है। उसके कारण युद्ध और अत्याचार दोनों की वृद्धि संभव है। फिर भी यह दृढ़तापूर्वक कहा जा सकता है कि भगवान् शंकर की तरह यदि विज्ञान संहारकर्ता के रूप में है तो कल्याणकर्ता के रूप में वह शिव भी है। विज्ञान के द्वारा दरिद्रता समूल नष्ट हो सकती है और कम-से-कम परिश्रम के द्वारा अधिक-से-अधिक लाभ उठाया जा सकता है। फिर भी यह देखा गया है कि कृषि की वैज्ञानिक रीति से साधारण मनुष्यों को उतना लाभ नहीं हुआ जितना एक विशेष वर्ग को। वैज्ञानिक रीति से चिकित्सा-शास्त्र की उन्नति हो जाने से अब मृत्यु की संख्या घट गई है। मनुष्यों की रोग-यातनायें भी अब कम हो गई हैं। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि सभी लोगों को सभी देशों में चिकित्सा-शास्त्र की उन्नत प्रणाली से समाज रूप से लाभ उठाने के अवसर प्राप्त हुए हैं। सुखों के साधनों की वृद्धि अवश्य हुई है, परन्तु सभी लोगों को वे अभी सुलभ नहीं है। किसी भी मत को स्वीकार कर उसका दृढ़ अनुयायी होने का अर्थ यह हो जाता है कि हम में मतान्धता आ जाती है। मध्ययुग में यदि धर्मान्धता थी तो वर्तमान युग में भी मतान्धता है।

हमें सत्य की सतत परीक्षा करनी चाहिये और जो यथार्थ स्थिति है, उसकी ओर कभी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। इससे नैराश्य का भाव आ जाता है। उसी से अकर्मण्यता होती है। हमारे युग में तीन बातों की सबसे बड़ी आवश्यकता है—एक सहानुभूति जिसमें यह इच्छा प्रबल रहती है कि मनुष्य मात्र सुखी हो। दूसरी ज्ञान के लिए सच्ची स्पृहा का होना और तीसरे नव-निर्माण के लिए साहस, आशा और स्फूर्ति। जब तक राष्ट्रों के भीतर संशय और भय है, तब तक उनमें शक्ति के लिए कामना होगी और घृणा तथा असहिष्णुता का भाव भी प्रबल रहेगा। भारतीय धर्मशास्त्रों में जिस प्रेमभाव की महिमा गाई है वही विश्व की समस्या का समाधान कर सकता है। वही यथार्थ में हमारे जीवन का ध्येय है। वही हमें न्याय के पथ पर ले जा सकता है। विज्ञान की शक्ति के द्वारा संसार का जितना हित हो सकता है उतना ही अहित भी हो सकता है। इस ध्येय को जीवन में चरितार्थ करने के लिए उच्च बौद्धिक विकास न होने से एक मात्र विज्ञान की वृद्धि अनिष्टकारिणी होती जाती है।